

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_190983

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. ⁴¹ 370.1093 Accession No. P.G.H. 2368

Author V. S.

Title

వైద్యనాశ్రా 2112-71
121211 - 1213-111

This book should be returned on or before the date last marked below.



शिक्षण-तरङ्गिणी



लेखक—

सामवेद-भाष्यकार, आर्य-सिद्धान्त-सागर, कर्ममीमांसा
तथा वैदिक-ज्योति आदि पुस्तकों के लेखक
वैदिक अनुसंधान कर्त्ता—
आचार्य वैद्यनाथ शास्त्री



प्रकाशक—

आचार्य वैद्यनाथ शास्त्री
C/o आर्य कन्या गुरुकुल
पोस्ट बाक्स १
राजवाडी, पोरबन्दर (सौराष्ट्र)

सर्वाधिकार सुरक्षित

मुद्रक—

शिरीशचन्द्र शिवहरे एम० ए०
दी फाइन आर्ट प्रिंटिंग प्रेस,
अजमेर.

इस पुस्तक के मुद्रण-कार्य में—

“स्व० सेठ श्री पोपटलाल कालीदास वेद प्रचार निधि”
पोरबन्दर की तरफ से उसके अध्यक्ष, एवं आर्य कन्या गुरुकुल
तथा महिला महाविद्यालय पोरबन्दर, तथा महर्षि दयानन्द
विद्यालय चौक्री, सोरठ आदि संस्थाओं के संस्थापक, शिक्षण
कार्य में विशेष लगन रखने वाले सेठ श्री नानजी भाई कालिदास
मेहता के द्वारा जो कुछ आर्थिक सहायता मिली है तदर्थ हार्दिक

—धन्यवाद

—लेखक

भूमिका

आधुनिक शिक्षापद्धति की गतिविधि और परिणाम पर गम्भीरता से विचार करने वाले सभी शिक्षा-शास्त्रज्ञ इससे किसी न किसी अंश में असन्तुष्ट हैं और इसमें एक मौलिक परिवर्तन चाहते हैं। वर्तमान शिक्षा-पद्धति वस्तुतः पाश्चात्य विदेशियों द्वारा भारत में चालू की गयी थी और इसमें उनका अपना लक्षित उद्देश्य निहित था। इसकी पार्श्वभूमि पाश्चात्य प्रकृतिवादी दर्शन और अभारतीय रीतिनीतियों पर आधारित है। भारत के स्वतन्त्र होने के पश्चात् अब उसे अपनी उस स्वदेशज शिक्षापद्धति की महती आवश्यकता है जो उसके लिये उपयोगी हो और उसकी अपनी आत्मवादी-दार्शनिक विचारधारा और राष्ट्रीय भावना पर आधारित हो। प्रकृतिवाद जब अध्यात्मवाद के अंचल से बाहर हो जाता है तब वह उच्छृङ्खल और विनाशकारी हो जाता है। अतः उसे अध्यात्म से पृथक् नहीं होने देने में ही मानव का कल्याण है। हमारे शिक्षा के दर्शन में भी इस आध्यात्मिक-तत्त्व की आवश्यकता है। कोई भी शिक्षापद्धति बिना अपनी दार्शनिक पृष्ठभूमि के सफल नहीं हो सकती। अतः भारत की अध्यात्मप्रधान भूमि में उसकी शिक्षा अपने दर्शन पर आधारित हो, इसी में उसका कल्याण है और इसी में है उसकी आत्मीयता, राष्ट्रीयता एवं विशेषता।

शिक्षा के विविध पार्श्वों पर दार्शनिक, व्यावहारिक और उपयोगी ढंग से विचार करते हुए मैंने इस प्रस्तुत पुस्तक शिक्षण-तरङ्गिणी में कुछ अत्यन्त उपयोगी विचार प्रस्तुत किये हैं। इनसे शिक्षा-शास्त्रज्ञों और शिक्षा के महान् क्षेत्र में कार्य करने वालों को एक नवीन प्रेरणा और नूतन दृष्टिकोण मिलेगा। भारत की प्राचीन शिक्षापद्धति की विशेषताओं और वर्तमान पद्धति में उनका किस प्रकार समावेश हो, तथा शिक्षा के अन्य

महत्वपूर्ण तत्वों, एवं वर्तमान में शिक्षा सूत्र का किस प्रकार संचालन हो, इत्यादि विषयों पर प्रकाश डालने का पूरा प्रयत्न किया गया है। इसके अध्ययन से शिक्षाशास्त्रियों, शिक्षकों, अध्यापकों, विद्यार्थियों एवं अन्य साधारणजनों को भी लाभ मिल सकेगा। आशा है लोग इससे लाभ उठावेंगे। इसके पूर्व प्रकाशित मेरी “कर्ममीमांसा” और “वैदिक-उज्योति” पुस्तकों का जनता और विद्वज्जनों ने बड़ा समादर किया, इसके लिये मैं उनका आभारी हूँ।

मैं यहाँ पर सौराष्ट्र के प्रसिद्ध उद्योगपति, श्रीशिक्षा में रस लेने वाले और तदर्थ एवं अन्य विविध कार्यों में लगभग डेढ़ करोड़ का दान करने वाले, अपनी शिक्षण-संस्थाओं के कार्य में निरन्तर तत्पर, गुरुकुलीय शिक्षा के विश्वासी, वैदिक भारतीय सभ्यता के पक्षपाती, धार्मिक वृत्ति, पोरबन्दर निवासी श्री सेठ नानजी भाई कालिदास मेहता का धन्यवाद करता हूँ कि उन्होंने—“स्व० सेठश्री पोपटलाल-कालिदास-वेद प्रचार निधि” पोरबन्दर से इस पुस्तक की छपाई में उदारता पूर्वक आर्थिक सहायता दी। परमेश्वर उन्हें सदा सुखी समृद्ध रखे। इस निधि का तो मैं हृदय से धन्यवाद करता ही हूँ।

इस पुस्तक के विविध कार्यों में मेरी विदुषी पत्नी श्री उर्मिला देवी शास्त्री का सदा सहयोग रहा। उन्होंने प्रूफ आदि देखने का कार्य तत्परता से किया है। साथ ही मैं फाइन आर्ट प्रिंटिंग प्रेस अजमेर के मैनेजिंग डाइरेक्टर प्रिय शिरीशचन्द्र शिवहरे एम० ए० का धन्यवाद करता हूँ कि उन्होंने इस पुस्तक के छापने में बड़ी ही तत्परता दिखलाई।

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ
१. वैदिक काल में शिक्षा	३
२. शिक्षा के कुछ ज्ञातव्य	१०
३. संस्कृत शिक्षा में प्रगति की आवश्यकता	१७
४. शिक्षा में मनोविज्ञान की स्थिति	२५
५. हमारे शिक्षक और विद्यार्थियों में अपनी संस्कृति के लिए उच्च भाव हो.....	३४
६. शिक्षा पर दर्शन का प्रभाव	४२
७. शिक्षा के क्षेत्र में अनुशासन का प्रकार	५२
८. उपनिषदों में शिक्षा का रहस्य	६०
९. संस्कृत के अध्ययनाध्यापन में कुछ नवीनता की आवश्यकता	६९
१०. वर्तमान संस्कृत शिक्षा और वेदों का अध्ययनाध्यापन	७८
११. संस्कृत-साहित्य में ग्रन्थ-निर्माण-प्रवृत्ति	९२
१२. गणित-विज्ञान	१०५
१३. गणित विज्ञान और भारतीय दृष्टिकोण	११४
१४. प्राचीन-भारत की राजकीय कर-व्यवस्था	१२५
१५. विचार-दर्शन	१३२
१६. भारतीय साहित्य में मेघ	१३८
१७. विज्ञान-क्षेत्र में भारत की अमर देन	१४३
१८. प्राचीन-कालीन भारत में विमान-निर्माण	१५१
१९. प्राचीन भारत का समुन्नत नौ निर्माण-विज्ञान	१५७
२०. भारत का आयुर्वेदिक विज्ञान	१६२
२१. भारत के समय-समय के सिंचाई के साधन	१७०
२२. लेखन-मुद्रण-प्रकाशन-कला	१७७
२३. नाट्य-कला का विकास	१८२
२४. वाद्य-शिरोमणि वीणा	१८९
२५. पृथ्वी पर मानव के उदय का इतिवृत्त	१९६

शिक्षण-तरङ्गिणी

वैदिक काल में शिक्षा

भारतीय संस्कृति का मूलाधार वैदिक वाङ्मय है। संस्कृति के समस्त अंगों और मानवजीवन के साफल्य के सभी साधनों पर इसमें गौरीगंगा से विचार किया गया है। शिक्षा मानव को मानव बनाने का एक प्रधान साधन है अतः यह विशाल साहित्य इससे रिक्त नहीं रह सकता था। इसीलिए इस पर भी विशद विचार हमें इसमें उपलब्ध होता है। वर्तमान समय में मनोविज्ञान के ढंग पर शिक्षा के सभी दृष्टिकोणों पर विचार किया गया है और नये नये निरीक्षणों द्वारा इसे लाभकारी बनाने का उद्योग किया जा रहा है। परन्तु वैदिक कालिक शिक्षा में हमें एक अनोखापन प्रतीत होता है जो वर्तमान से कहीं अधिक प्रशस्त और सर्वांगीण है।

सभी शिक्षा-विज्ञान-विशारदों के समक्ष यह जटिल प्रश्न रहा है कि शिक्षा का अंतिम उद्देश्य क्या है? वर्तमान समय में भी प्रश्न ज्यों का त्यों है। वैदिकशिक्षापद्धति में सर्वप्रथम शिक्षा के उद्देश्यों को बालक के मस्तिष्क में बैठा दिया जाता है। शिक्षा के उद्देश्यों का वर्णन करते हुए यह बात कही जाती है कि यह दीर्घायु, बल और ज्ञान को बढ़ाकर मनुष्य को पूर्ण मनुष्य बनाती है। यहाँ यह स्पष्ट हुआ कि दीर्घायु, बल और ज्ञान का लाभ शिक्षा के उद्देश्यों में है। एक स्थल पर वैदिक ग्रंथ में

इन उद्देश्यों का विशदीकरण प्रकारांतर से मिलता है। वैदिक शिक्षा पद्धति में आचार्य को मुख्य स्थान दिया गया है। इस आचार्य पद के अर्थ को बतलाते हुए कहा गया है कि आचार्य वह है जो शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को बतलाता है, ज्ञान का विकास कराता है और आचार का प्रहण कराता है। वैदिकसाहित्य में इस प्रकार के अनेक वर्णन मिलते हैं। इस पद्धति में ज्ञान और विद्या के विकास पर ही अधिक बल नहीं है, अपितु इनके साथ साथ इनके उज्जीवक आचार पर अधिक बल दिया गया है। आचार के बिना कोरा ज्ञान या जानकारी किसी काम की नहीं। मनुष्य में अगर सदाचार नहीं है तो वह कितना ही ज्ञानी क्यों न हो उसका कोई भी प्रभाव नहीं। ऊपर के तीनों उद्देश्य दीर्घायुष्य आदि इन तीन के अन्तर्भूत हो जाते हैं और इस प्रकार शिक्षा का उद्देश्य शब्दार्थ ज्ञान, आचार और ज्ञानविकास रह जाते हैं। आगे चलकर इस पद्धति में विद्या को ज्ञानकरी, आचारकरी और यशस्करी कहा गया है। अर्थ का प्रश्न वर्तमान समय में बड़ा जटिल है, पहले रहा हो या न रहा हो। सबका दृष्टिकोण इसमें सहमत है कि विद्या को अर्थकरी होना चाहिए। बिना इसके जीवन की समस्याएँ सुलभ नहीं सकतीं। वैदिक काल में अर्थ को इतना अधिक महत्त्व नहीं दिया जाता था क्योंकि उस समय जीविका का प्रश्न इतना जटिल नहीं था। जो कुछ भी आवश्यक था वह यशः के अन्तर्गत ही समझा जाता था। इसी कारण यशस्करी विद्या कहने से अर्थकरी का भी भाव आ जाता था।

ऊपर की पंक्तियों में शिक्षा का उद्देश्य बतलाया गया। अब उन उद्देश्यों को दृष्टि में रखकर वैदिकशिक्षा के प्रकार का संक्षेप में वर्णन किया जाता है। जैसे उद्देश्य होते हैं, साधन या प्रकार भी उन्हीं के अनुरूप होने चाहिए। इसी दृष्टिकोण से वैदिककालिक शिक्षा में गुरुकुल को प्रधानता दी गयी। अपने माँ-बाप से पोषण पाकर और साधारण

शिक्षा को उनसे लेकर बालक पाँच वर्ष या आठ वर्ष की अवस्था में गुरुकुल वास के लिए आचार्य के पास जाता था। आचार्य तीन रात बालक की मानसिक स्थितियों को देखकर पुनः उसे गुरुकुल में प्रविष्ट करता था। प्रवेश के समय बालक को एक आवश्यक कृत्य करना पड़ता था। वह है उपनयन संस्कार। इसका शाब्दिक अर्थ समीप प्राप्त होना है। इसे शब्दान्तर से यज्ञोपवीत और व्रतबन्ध कहा जाता है। उपनयन पद बालक के आचार्य के पास जाने का जहाँ द्योतक है वहाँ यज्ञोपवीत कर्मकांड और विद्यार्जन में इसके अधिकार-प्राप्ति का सूचक है। व्रतबन्ध पद ब्रह्मचर्य आश्रम के नियमों के पालन और गुरुकुलीय अनुशासन में रहने के व्रत का द्योतक है। यज्ञोपवीत में आचार्य बालक को नियमों का उपदेश करता है। बालक भी प्रतिज्ञा करता है और व्रत धारण करता है कि वह उनका पालन करेगा। व्रत धारण करते समय बालक जो वाक्य बोलता है वह वास्तव में बहुत ही भावपूर्ण है। बालक कहता है कि मैं व्रत का पालन करूँगा। परमेश्वर मेरे व्रत को पूरा करे और मैं इस प्रकार मनुष्यता की सीमा से उठकर देवत्व को प्राप्त हो जाऊँ। इसके उपरान्त बालक को विद्या आरम्भ कराने के लिए वेदारंभ संस्कार का कृत्य किया जाता है। इसके द्वारा आचार्य बालक को उन नियमों को बतलाता है जो ज्ञानार्जन-सम्बन्धी आचार-सम्बन्धी और अनुशासन-सम्बन्धी हैं। ज्ञानार्जन में उसे वर्णों का उच्चारण प्रारंभ कराता है, आचार में ब्रह्मचर्य-सम्बन्धी नियमों को बतलाता और अनुशासन में शिष्टों के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए, गुरुकुलीय नियमों का कैसे पालन करना चाहिए आदि का उपदेश करता है। भारतीय ऋषि इस बात को भली प्रकार समझते थे कि अनुशासन और सदाचार के बिना विद्यार्जन नहीं हो सकता, अतः बालक को सर्वप्रथम आचार्य द्वारा इनके उपदेश का विधान उन्होंने बतलाया। इस संस्कार से बालक गुरुकुल में प्रविष्ट होता है और

शिक्षण-परिचय

अब उसकी प्रारंभिक शिक्षा आरंभ हो जाती है ।

गुरुकुल में शिक्षा पाते हुए विद्यार्थी को भोजन के लिए भिक्षा माँगनी पड़ती थी । यह नियम गरीब, धनी, छोटे और बड़े के भेद के बिना सार्वजनिक था । राजा हो या रंक हो, सभी के बच्चों के लिए गुरुकुल में यह नियम समान था । वर्तमान समय में इस प्रथा की उपादेयता में संदेह मले ही हो परन्तु प्राचीन काल में यह अच्छी ही समझी जाती थी ।

विद्यार्थी को विद्योपार्जन तथा आचार आदि के नियमों के पालन में सदा तत्पर रहना पड़ता था । आचार और अनुशासन के नियमों में उसे कोई अवकाश नहीं रहता था, परन्तु विद्याध्ययन में उसे अवकाश भी मिला करता था । कभी पूर्ण अनध्याय और कभी अर्धानध्याय रहता था विद्यार्थी को कृष्णाष्टमी, कृष्णचतुर्दशी, अमावस्या, शुक्लपक्ष की अष्टमी, चतुर्दशी और पूर्णिमा, सूर्योदय, सूर्यास्त का काल, अकाल बिजली गर्जन, बादल घिर आने, बीमारी के समय, परिवार में दुःख पड़ने या राजा के आपत्तिकाल में, देश आपत्ति के दिन में, जिस दिन स्मशान में जाना हो, युद्ध के महोत्सव, उत्पात के दिनों में तथा जिन दिनों में वेदाध्यायी अनध्याय रखते हैं, आदि समयों में अवकाश रहता था । अनध्याय के दिन किन्हीं वैदिक ग्रन्थों में इससे अधिक गिनाये गये हैं । परन्तु ये सर्वसाधारण हैं ।

पूर्वोक्त शीर्षकों में शिक्षा के उद्देश्य और प्रकार पर प्रकाश डाला गया । अब उसके क्षेत्र पर विचार प्रस्तुत किया जाता है । विद्या का क्षेत्र वैसे तो अनन्त है परन्तु विद्यार्थी को अध्ययन-काल में जितनी शिक्षा विविध विषयों की दी जाती थी वही यहाँ पर अभिप्रेत है । पहले यह बतलाया गया कि विद्यारंभ में विद्यार्थी वर्णोच्चारण से प्रारम्भ करता है । अक्षर परिचय से लेकर स्नातक होने पर्यन्त जो शिक्षा दी जाती है वही

शिक्षा के विस्तार का क्षेत्र समझना चाहिए। वेदारंभ संस्कार में शिक्षा के क्षेत्र का वर्णन इस प्रकार किया गया है। विद्यार्थी आचार्य के सामने खड़ा होकर तीन लकड़ियाँ अग्नि कुंड में डालता है। इन तीन लकड़ियों की विशद व्याख्या करते हुए वैदिक संहिता में बतलाया गया है कि ये तीनों पृथ्वी (The earth) अन्तरिक्ष (The atmosphere) और सूर्यः (The Solar System) के प्रतिरूप हैं। इससे यह आशय लिया गया है कि इन तीनों लोकों का जितना विज्ञान है वह विद्यार्थी की शिक्षा का क्षेत्र है। यद्यपि यह क्षेत्र बहुत बड़ा है परन्तु यह एक ऐसी पहेलिका के रूप में है कि जिसकी बृहद् व्याख्या की आवश्यकता है। इसका विशदीकरण करते हुए वैदिक साहित्य में कई विद्याओं का उल्लेख किया गया है। चतुर्दश विद्याओं का वर्णन धर्मशास्त्र के ग्रन्थों में हमें उपलब्ध होता है। इनकी गणना करते हुए बतलाया गया है कि चार वेद, पुराण, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छन्द, निरुक्त और ज्योतिष—ये १४ विद्याएँ हैं। बालक वर्णोच्चारण शिक्षा और उसके परिचय के अनन्तर भाषा के ज्ञान की तरफ बढ़ता है। भाषा के अंगों को जानने के बाद वह विद्या-विषयाङ्गों का अध्ययन करता है। भाषा के अंग इस साहित्य में वर्णोच्चारण शिक्षा, भाषा-विज्ञान, अर्थ-विज्ञान और छन्दः विज्ञान है। विषयांग-विनियोगविज्ञान, ज्योतिर्विज्ञान, आयुर्वेद, धनुर्वेद, गानविद्या, तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र, वार्ता और अध्यात्मविज्ञान हैं। आधुनिक विद्याओं में प्रचलित बहुत-सी विद्याओं का सम्मिश्रण पूर्वोक्त १४ विद्याओं में ही हो जाता है। नारद को जिन विद्याओं का परिज्ञान था वे बहुत ही महत्वपूर्ण हैं और उपनिषद् साहित्य में इस बात का उल्लेख मिलता है। नारद जिन विद्याओं को जानते थे वे ये हैं:—

ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास-पुराण (History) वेदानांवेद (Grammar and Philosophy etc.) पितृय (Anthropology),

राशि (Mathematics), दैव उत्पात आदि (Physical Geography), निधि (Minerology), वाकोवाक्य (Logic) एकायनम् नीति विद्या (Ethics,) देवविद्या (Physical Science); ब्रह्मविद्या (Metaphysics); भूतविद्या (Zoology and Anatomy etc.); क्षत्रविद्या (Military Science and Art of Govt.); नक्षत्रविद्या (Astronomy); सर्पविद्या (Science of treating of Venomous reptiles) और देवजनविद्या (Art of Singing and playing on instruments) । बालक इन विद्याओं को क्रमशः अपने गुरुकुल वास काल में सीखे और विद्या के इस विस्तृत क्षेत्र का पासंगत बने, इस बात का प्रयत्न वैदिक काल की शिक्षा में दिखलाया गया है । आचार्य इन विद्याओं की तरफ विद्यार्थी को क्रमशः ले जाता है ।

इन ऊँचे विद्या के अंगों को हृदयंगम कर लेने से ही शिक्षा की इतिश्री नहीं हो जाती है । वाचिक ज्ञान का विकास कितना ही हो जाय, ज्ञान की ऊँची उड़ान में विद्यार्थी का मस्तिष्क उड़ने का कितना ही अभ्यासी हो जाय, यह सब कुछ उसके लिए अपर्याप्त है जब तक कि उसे हस्तलाघव अथवा कला आदि का परिज्ञान न हो । वैदिक शिक्षाविशारदों ने इस रहस्य को भली भाँति समझा था और उन्होंने जहाँ ऊँचे से ऊँचे विद्वानों की शिक्षा देने का अपनी पद्धति में समावेश किया वहाँ अधिक से अधिक कलाओं के परिज्ञान का भी सन्निवेश उसमें रक्खा । संस्कृत साहित्य में ६४ कलाएँ मानी गयी हैं । इनका उल्लेख विविध ग्रन्थों में मिलता है ।

विद्यार्थी इन सब कलाओं और पूर्वोक्त विद्याओं को नियमपूर्वक सीखता है । इन कलाओं का स्वीशिक्षा में अधिक स्थान और महत्त्व है । उसकी विद्या पूर्ण हो जाने पर आचार्य उसे स्नातक की उपाधि देता है । वैदिक शिक्षा पद्धति में जैसा कि पूर्व कहा गया है केवल विद्या की ही प्रधानता नहीं बल्कि आचार को भी उच्च स्थान दिया गया है । स्नातक को उपाधि देते समय आचार आदि पर भी पूर्ण विचार होता है ।

इसी प्रकार स्नातकों को भी तीन प्रकार का बतलाया गया है । विद्यास्नातक, व्रतस्नातक, और विद्याव्रतस्नातक । जिसको विद्या की तो पूर्ण प्राप्ति हुई है परन्तु अभी ब्रह्मचर्य आदि का व्रत नहीं पूरा हुआ है उसे विद्यास्नातक कहा जाता है । जो विद्यार्थी व्रत तो पूरा कर सका परन्तु अभी विद्या कुछ बाकी है वह व्रतस्नातक की उपाधि प्राप्त करता है । जिसने विद्या और व्रत दोनों को पूर्ण कर लिया है वह विद्याव्रतस्नातक की उपाधि से विभूषित होता है । वैदिक-शिक्षा-पद्धति से पढ़कर स्नातक हुआ व्यक्ति इस प्रकार सर्वार्गपूर्ण मानव बनकर अपने अगले जीवन-क्षेत्र में अवतरित होता है । वह दीर्घायु, बल और ज्ञान वाला होकर संसार में अपनी जीवनयात्रा को सुखपूर्वक समाप्त करता है ।



शिक्षा के कुछ ज्ञातव्य

मनुष्य के जीवनोद्देश्य की पूर्ति का शिक्षा एक शक्तिशाली साधन है। उद्देश्य के अनुसार ही इस साधन में भी समय समय पर परिवर्तन और परिवर्धन होते रहे हैं और भविष्य में होंगे भी। मनुष्य-जीवन के उद्देश्य-निर्धारण का मानदण्ड कभी व्यक्ति की दृष्टि से रहा और कभी समष्टि की दृष्टि से। कभी वर्गीयजातिवाद और कभी विश्व-भावनामय-जीवनवाद। वैयक्तिकोत्कर्षपूर्वक सामाजिक उत्कर्ष हो और उससे “वसुधैव कुटुम्बकम्” की परम्परा स्थिर हो और उसी का सर्वत्र साम्राज्य हो, इस भावना ने शिक्षा के प्रकार पर अपने ढंग से विचार किया। जब कि व्यक्तिका उत्कर्ष समाज के उत्कर्ष से अतिरिक्त नहीं और राष्ट्रीयता ही मानव-समाज का उद्देश्य है, इस विचार-धारा के अनुयायियों ने इस दिशा में मार्गान्तर का आश्रय लिया। इसमें सन्देह नहीं कि इन उद्देश्यों के उतार-चढ़ाव के साथ साथ शिक्षा-सूत्र के संचालन में अनेकों उतार-चढ़ाव होते रहे परन्तु इससे शिक्षा-पद्धति को वैज्ञानिक रूप उत्तरोत्तर प्राप्त होता गया। इन उद्देश्यों के निर्धारण में दो और प्रमुख विचार-धाराएँ अनुस्यूत होती रहीं। इन का भी शिक्षा-सिद्धान्तों के निर्धारण में प्रमुख हाथ रहा है। ये विचारधाराएँ हैं:—मानवी इतिहास का भूतात्मक और आध्यात्मिक + भूतात्मक विश्लेषण। जो लोग इतिहास को भूतात्मक

मानते रहे, उनके उद्देश्य की सीमा ने राष्ट्रीयता से आगे अपना पद नहीं रखा। जो लोग इतिहास की व्याख्या अध्यात्मप्राणित-भूतात्मवाद से करते रहे, वे राष्ट्रीयता को विश्वभावनामय जीवन का साधन मानकर अपने को प्रकृतिवाद से आगे भी ले जाते थे। वास्तव में यदि देखा जाय तो बातें दोनों ही सच्ची हैं, परन्तु पूर्व-गारणा समूची सच्चाई का एक आधा और दूसरी उसका दूसरा आधा है। मानवी इतिहास न केवल भूतात्मक है और न केवल आध्यात्मिक। वह भूतात्मक + आध्यात्मिक है। भूतात्मक धारणा में इस बात का कोई समाधान नहीं कि व्यक्ति में आत्मोत्कर्ष, आत्मबलिदान, शूरत्व और नैतिकता के भाव कहाँ से बद्धमूल हुए।

अस्तु इन दो धारणाओं के आधार पर ही मानव जीवन के उद्देश्य बनते रहे और उनके अनुरूप ही शिक्षा के नियमों का निर्माण होता रहा। वर्तमान शिक्षा के नियम, जो भारत में चल रहे थे, विदेशी सरकार के समय के हैं और इसमें सन्देह नहीं कि उनमें प्रकृतिवाद का बीज है। शताब्दियों की दासता के कारण शिक्षा पर उसकी छाप बनी हुई है। अब भारत स्वतंत्र है, अतः उसमें भारतीयता आनी चाहिए, और राष्ट्रीय सरकारें इसका प्रयत्न भी कर रही हैं। भारतीयता कभी जातिवाद की पक्षपातिनी नहीं, वह तो विश्वभावनात्मक परम्परा की पोषक है। उसका दृष्टिकोण केवल प्रकृति नहीं बल्कि पुरुष-प्रकृतिवाद है। जब उद्देश्य भिन्न है तो साधन में भी कुछ न कुछ भिन्नता होगी ही। उद्देश्य के अनुसार ही अनेक परिवर्तन शिक्षा के नियमों में करने पड़ेंगे। अब शिक्षा का काम कर्क उत्पन्न करना नहीं रहेगा अपितु एक समुन्नत नागरिक बनाना होगा, जो कि विश्व के विशाल मानव-परिवार का एक व्यक्ति है।

सर्वप्रथम बात जो इस प्रकरण में ध्यान देने की है वह है शिक्षा का दर्शन। यह दर्शन पाश्चात्य शिक्षा-प्रणाली में प्रकृतिवाद के आधार पर

व्याख्यात है। उसके ऊपर यह नहीं बढ़ता। वह अन्धी प्रकृति के क्षेत्र में ही अपने कार्यकलाप को समाप्त करता है। आत्मवाद की उसमें गन्ध नहीं, जिससे वह लँगड़ा है। कोई कितना ही कहे परन्तु युष्मत्प्रत्यय के तर्क प्रत्यक्षसिद्ध विशुद्ध अस्मन् के अस्तित्व को हटा नहीं सकते। शिक्षा के दर्शन का आरंभ विन्दु प्रकृति नहीं किन्तु आत्मा है जो चेतन है और है ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न का केन्द्र। यह चेतन शक्ति अपने चारों ओर की प्रकृति पर दृष्टि डालती है और उसे यथार्थ रूप में ग्रहण करना चाहती है। इससे बाह्य वस्तुओं की विविध छाप उस पर पड़ती है और साथ ही ज्ञान की नैसर्गिक वृत्ति प्रबल होती है और इन प्रभावों को व्यक्त करने की शक्ति का भी उन्मेष होता है। यह अभिव्यक्ति शक्ति की शक्ति प्रकृति के समुदायों का फल नहीं है बल्कि मनुष्य मात्र के अस्तित्व के साथ यह लगी हुई है। मनुष्य के शारीरिक तथा मानसिक संगठन के मूल में ही इसका सन्निवेश है, यह इन संघटनों का फल नहीं। मनुष्य की चेतन आत्मा अपने सहज ज्ञान-बल से जहाँ सृष्टि को देखना चाहती है, वहाँ उससे समुत्पन्न भावों को उसी रूप में व्यक्त भी करना चाहती है। वह अपनी इस प्रकृति को किसी भी तरह रोक नहीं सकती। इस शक्ति का नाम अभिव्यंजन-शक्ति है। मनुष्य जहाँ अपने स्वाभाविक ज्ञान में बाह्यानुभवों को ग्रहीत करता है, वहाँ दोनों के सहयोग से उत्पन्न ज्ञान-प्रवाह को इस शक्ति के द्वारा बाहर प्रसारित भी करना चाहता है। वास्तव में यह शक्ति ही संस्कृति, तर्कशास्त्र, दर्शन, कला, ऐतिह्य और विज्ञान और शिक्षा-विज्ञान की जननी है। इसी से सबका समन्वय होता है।

ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न इन तीन गुणों से आत्मा इस विश्व में अपने खेल को खेलना चाहता है। शिक्षा उस खेल को उद्देश्य तक पहुँचाने का एक प्रधान साधन है। शिक्षा के नियम इसी दृष्टि से बनाये गये हैं। इन नियमों के द्वारा बाह्य-ज्ञान को बालक के मस्तिष्क के आभ्यन्तर करना

और आभ्यन्तरीय बोध तथा अभिव्यंजना को बहिर्वृत्ति करना होता है। यह उभयविध आयाम विकास को जागरूक करता है। वर्तमान आंग्ल भाषा में शिक्षा या उसके तत्सम अर्थ के शब्द— Education, Instruction आदि हैं। इनमें प्रथम का अर्थ उसके धातुमूल के अनुसार ज्ञान को बाहर निकालना है और दूसरे का अर्थ भरना या बाहर से अन्दर को ले जाना है। ये दोनों शब्द वास्तव में शिक्षा की दो क्रियाओं को ही बतलाते हैं। एक में बालक पर शिक्षण द्वारा बाह्यज्ञान भरा जाता है और दूसरे में बालक के आन्तरिक ज्ञान को बाहर की तरफ प्रेरित किया जाता है। ये क्रियाएँ शिक्षा में पल्वित होती रहती हैं। इनके अतिरिक्त तीसरा कार्य शिक्षा में अनुशासन है। पहले दो कार्य जहाँ शिक्षण और उद्बोधन से सम्बद्ध हैं, वहाँ यह तीसरा अनुशासन से सम्बन्ध रखता है। अँगरेजी में इसके लिए discipline पद का प्रयोग है। इसके अर्थ teaching, training, education और instruction भी हैं तथा अनुशासनरूप नियमन भी। शिक्षा में इस अनुशासन का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। बिना इसके शिक्षा की पूर्ति नहीं हो सकती। विद्यार्जन जहाँ मनुष्य को विज्ञ बनाता है वहाँ अनुशासन उसे शिष्ट की उपाधि से भूषित करता है।

प्राचीन भारतीय वाङ्मय में 'अनुशासन' के अन्तर्गत ही शिक्षा के कई कार्य समझे जाते थे। "आचार्य अन्तेवासिनमनुशास्ति" सूत्र में सभी शिक्षणों का, चाहे वे ज्ञानात्मक, आचारात्मक, और विचारात्मक जो भी हों, समावेश है। जिस प्रकार अँगरेजी के discipline शब्द में शिक्षा और अनुशासन आदि सभी आ जाते हैं, उसी प्रकार संस्कृत के अनु + शास् धातु में सारे भाव भरे हैं। वर्तमान समय में शिक्षणालयों में शिक्षा को उच्च स्तर पर ले जाने का प्रयत्न हो रहा है परन्तु यह पूर्ण क्यों नहीं हो पाता, इसलिए कि "अनुशासन" रूपी अंग में शैथिल्य है। विद्यार्थियों

में अनुशासन बहुत सीमा तक बिगड़ चुका है। इसके बिगड़ने से अनेकों दुर्गुण पैदा हो गये हैं, जिससे प्रबन्धकों के समक्ष बड़ी-बड़ी कठिनाइयाँ उपस्थित हो गयी हैं।

यह अनुशासन-शैथिल्य क्यों है ? इसका कारण विद्यार्थियों का कर्तव्यक्षेत्र को छोड़कर अधिकार-क्षेत्र में प्रवेश करना है। विद्यार्थी-जीवन विशुद्ध कर्तव्य का जीवन है। उसमें अधिकार का समावेश नहीं। वैसे तो भारतीय परम्परा प्रत्येक मनुष्य को कर्तव्य का ही पाठ पढ़ाती है, अधिकार की माँग उसमें कर्तव्य पर ही आधारित है। समस्त स्मृतियों को देख जाइए कर्तव्य का ही विधान मिलेगा। अधिकार का वर्णन बहुत थोड़ा दिखलाई पड़ेगा और वह भी कर्तव्यपरायण के लिए। भारत को बहुत समय की परतंत्रता के बाद स्वतंत्रता प्राप्त करने से अधिकार की माँग बढ़ गयी है। चारों तरफ इसका ही प्राधान्य है। कुछ अवांछनीय तत्वों ने इस विषय को विद्यार्थी जीवन में भी पहुँचा दिया है। इससे विद्यार्थीगण भी कुछ प्रभावित होने लगे हैं और यह प्रभाव अनुशासन की शृङ्खला को भी ढीला कर रहा है। परिणामतः अधिकार के आन्दोलन के अनन्तर प्रश्नपत्रों को भी 'आउट' करने के प्रयत्न होने लगे हैं। वास्तव में अधिकार विद्यार्थी-जीवन का विषय ही नहीं। वह तो कर्तव्य और योग्यता का फल है। विद्यार्थी-काल कर्तव्य ज्ञान और योग्यतार्जन का काल है। उसकी मर्यादा इसी में है—अधिकार क्षेत्र में प्रवेश करने में नहीं। यदि इस जीवन में कर्तव्य और योग्यता को सिद्ध कर लिया जावे तो अधिकार स्वयं आगे चलकर प्राप्त होता रहता है। इसलिए इन अनुशासन-विघातक प्रवृत्तियों से हटकर ही शिक्षा को पूर्ण किया जा सकता है।

एक और घातक प्रवृत्ति विद्यार्थियों में आ रही है और वह है—अध्यापकों के प्रति श्रद्धा का अभाव। बिना श्रद्धा के विद्यार्जन अधूरा रहता है। श्रद्धा अध्यापक और विद्यार्थी के पारस्परिक सम्बन्ध को अभ्युष्ण

और सुखदायी बनाती है। प्राचीन काल में गुरु-शिष्य परम्परा इसकी ही प्रतीक थी। आज के विद्यालयीय जीवन में वह बात नहीं देखी जाती। सभी धर्मों और संप्रदायों ने गुरु-शिष्य परम्परा को अपनाया है। इसमें किसी को विप्रतिपत्ति नहीं। वस्तुतः यदि मानवी मनोविज्ञान का विश्लेषण किया जावे तो यह दिखलायी पड़ता भी है। मनुष्य में गुरु-शिष्य भाव की प्रवृत्ति का उदय उसके दूसरे से शिक्षा ग्रहण करने का भी विचार रखता है। यह विचार ही उसे शिष्यता स्वीकार करने के लिए प्रेरित करता है। यदि मानव में यह प्रवृत्ति न होती तो कोई किसी का शिष्य भाव न स्वीकार करता और न इस प्रकार धर्म संप्रदायों और संघों का जन्म ही हुआ होता। जब विद्यार्थी दूसरे से शिक्षा ग्रहण करने का विचार रखता है, तब यह स्वाभाविक है कि उसमें श्रद्धा का भाव जमे। श्रद्धा के भाव से गुरुओं और अध्यापकों के प्रति आदर बढ़ता है और विद्यार्थी का उनसे सम्बन्ध निकटतर होता जाता है। आजकल का विद्यार्थीवर्ग अध्यापकों को नौकर समझ कर उनका आदर नहीं करता, यह उसको उनके सद्भावमय सम्बन्ध और विद्याविनिमय से दूर रखता है।

एक बड़ी भारी कमी आजकल विद्यार्थीवर्ग में खोज-प्रवृत्ति के अभाव की पायी जाती है। इससे शिक्षा अपनी नहीं बन पाती। जिस प्रकार कोई खुराक तब तक अपनी नहीं जब तक वह रक्त-रूप में परिवर्तित न हो जावे, उसी तरह शिक्षा द्वारा कोई ज्ञान अपना नहीं होता जब तक उसे आत्मसात् न कर लिया जावे। ज्ञान को अपना बनाने के साधन ग्रहण, धारण और अन्वेषण हैं। विद्यार्थी विषयों को पढ़ते हैं और परीक्षा पास करने के बाद उनका आभास मात्र पास रह जाता है। इसका कारण यही है कि वे इसे आत्मसात् नहीं करते। सभी पढ़े-लिखे व्यक्तियों ने यह पढ़ा है कि पृथ्वी घूमती है परन्तु विश्वास बहुत थोड़ों को है। कारण क्या कि जिस विद्या को स्कूल कालेजों में विद्यार्थी पढ़ते हैं उसमें खोज नहीं

करते हैं। यदि खोज की प्रवृत्ति उनमें बढ़े तो फिर ज्ञान पुस्तकीय न रहकर दृढ़ हो जावे। साथ ही खोज से अनेकों अज्ञात ज्ञेय वन जाते हैं और हृदय-संकीर्णता हटकर विशालता आ जाती है। सदा सच्चाई-ग्रहण की प्रवृत्ति बनी रहती है। इस प्रकार दूसरे से सीखने की प्रवृत्ति मनुष्य में श्रद्धा को जागरूक करती है। श्रद्धा से अनुशासन में रहने का विचार बनता है और अनुशासन दृढ़ होता है। अनुशासन से शिक्षा के बीज का मस्तिष्क में आरोपण भली प्रकार से हो जाता है। इससे बाह्यज्ञान की वृद्धि और आभ्यन्तरीय अभिव्यंजना शक्ति का उद्भव होता है जो मानव को शिष्ट, विद्वान् और निखरा मानव बना देती है।



संस्कृत-शिक्षा में प्रगति की आवश्यकता

विदेशीय सत्ता के काल में संस्कृत शिक्षा के उत्थान के लिए कोई विशेष प्रयत्न नहीं हुआ, जो कुछ हुआ भी वह केवल इतना ही था कि संस्कृत भाषा अब तक मृतक कही जाती हुई भी जीवन की आस लेती रही। फिर भी धन्यवाद है विदेशी शासकों को कि उन्होंने इसे इस रूप में भी रहने दिया। संस्कृत को इस रूप में बने रहने देने के लिए इनसे अधिक, नहीं नहीं, अत्यधिक धन्यवाद है उन संस्कृत-प्रेमी ब्राह्मणों को जिन्होंने वृत्ति और भिक्षा के बल से प्राप्त सूखी रोटियां खाकर भी इसे पठन-पाठन के द्वारा जीवित रहने दिया। इसमें संदेह नहीं कि भविष्य सदा इनके इस त्याग और तप की सराहना करेगा।

भारत को पूर्ण स्वातंत्र्य प्राप्त हो जाने के पश्चात् अब समय में बहुत बड़ा परिवर्तन हो गया है। इसके साथ ही साथ कुछ संस्कृत-प्रेमी महानुभावों का ध्यान इसके शिक्षण में प्रगति लाने की तरफ अभिसर हो रहा है। यद्यपि अन्य प्रांतों में सरकारों द्वारा इस दिशा में कोई पग नहीं उठाया गया है, फिर भी उत्तर-प्रदेश में पूर्व शिक्षा-सचिव माननीय श्री संपूर्णानन्द जी के उद्योग से इस विषय में नवीन स्फूर्ति और जागरूकता के चिह्न दृष्टिगोचर होने लगे हैं। माननीय श्री संपूर्णानन्द जी स्वयं संस्कृत के ज्ञाता हैं और संस्कृतशिक्षा के उत्थान में उनको अत्यधिक प्रेम है।

प्राचीन काल में काशी इस विषय में भारत की नाक थी अतः माननीय शिक्षासचिव काशी की पूर्व महत्ता को बढ़ाने के लिए संस्कृत शिक्षा में प्रगति लाने का यह कार्य भी वहीं से प्रारंभ कर रहे हैं । ठीक भी है, भारत में संस्कृत शिक्षण का प्रधान केन्द्र गवर्नमेंट संस्कृत कालेज, बनारस है । इसके सुधार से सार्वत्रिक सुधार की संभावना हो सकती है । यद्यपि यह प्रगति समुन्नायक कार्य काशी से ही प्रारंभ हो रहा है तथापि इसका स्वरूप अखिल भारतीय रूप धारण कर रहा है और आशा है कि भविष्य में संपूर्ण भारत में संस्कृत शिक्षा में इससे एक नवीन जीवन पैदा हो जावेगा । उत्तर प्रदेशीय शिक्षा-विभाग की एतत्संबंधी योजनाओं और उद्योगों से समस्त भारत में संस्कृत शिक्षा का समान स्तर स्थापित हो सकेगा, ऐसे चिह्न दृष्टिगोचर होने लगे हैं । अस्तु कुछ भी हो उत्तर प्रदेश के शिक्षा-विभाग और विशेषतः वहाँ के शिक्षा-सचिव का कार्य इस विषय में अत्यंत प्रशंसनीय और अग्रगामी है ।

यद्यपि संस्कृत-प्रेमी ब्राह्मणों ने अपने स्वार्थत्याग से संस्कृत को जीवित रखा परन्तु प्रगति जितनी इस विषय में होनी चाहिए थी नहीं हो सकी । इसका प्रधान कारण यह था कि इसे केवल कर्मकाण्ड की भाषा समझा गया और इसका अध्ययन थोड़े से लोगों तक ही सीमित रखा गया । जहाँ संस्कृत भाषा को अधिकांश मानवों की भाषा का स्थान मिलना चाहिए था वहाँ यह थोड़े लोगों तक ही सीमित रह गयी और इसका उपयोग केवल कुछ कर्मकाण्डों के लिए ही रह गया । इस प्रवृत्ति ने संस्कृत शिक्षा में प्रगति नहीं आने दी । अब सभी इस प्रवृत्ति से हटकर संस्कृत को सार्वजनिक ही नहीं अपितु राज्यभाषा बनाने का भी विचार करने लगे हैं । यह विचारधारा वास्तव में संस्कृत के भाग्य के उत्थान का शुभ-सूचक चिह्न है । इससे संस्कृत भाषा का क्षेत्र बहुत विस्तृत हो जावेगा । सभी लोग इसे पढ़ने लगेंगे ।

संस्कृत शिक्षा में प्रगति न आने का एक प्रधान कारण यह भी था कि इसके अध्ययन की तरफ विशेष रुचि लोगों की नहीं थी। यह किसी उपयोग में न आने के कारण अधिक जनसमुदाय के अध्ययन का विषय नहीं बन सकी। यदि इस कमी को पूरा कर दिया जावे और इस भाषा को उपयोगात्मकरूप दे दिया जावे तो यह शीघ्र ही सबका विषय बन जावेगी। किसी भी विचार का समुत्थापन तीन पद्धतियों को दृष्टि में रखकर किया जाता है—आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक। अब तक संस्कृत शिक्षा में आध्यात्मिक दृष्टि का ही अधिक सन्निवेश रखकर उसे शिक्षा का विषय बनाया गया। शेष दो दृष्टियों की उपेक्षा की गयी इसी से संस्कृत शिक्षा सर्वजनीन नहीं हो सकी। यदि दोनों दृष्टियों को भी प्रथम के साथ घनीभूत कर दिया जावे तो यह उपयोगात्मक और सर्वजनीन हो सकेगी। वेद-वेदान्त, व्याकरण, दर्शन तथा साहित्य केवल पारलौकिक उद्देश्यों के आधार पर नहीं अपनाये जा सकते जब तक कि लोक में रोटी की आवश्यकता को भी वे पूरा न कर दें। भूखा व्यक्ति व्याकरण नहीं खाता और प्यासा काव्यरस से तृप्त नहीं होता। संसार की आवश्यकताओं से उद्धिग्न व्यक्ति को वेद-वेदान्त नहीं सूझते। अतः एकांगी भाव को ही इस शिक्षा में स्थान न देकर अन्य अंगों को भी इसमें सम्मिलित कर इसे सर्वांगीणता दी जानी चाहिए। यह सर्वांगीणता संस्कृत शिक्षा के उद्देश्यों में आध्यात्मिकता के साथ पूर्वोक्त अन्य दोनों दृष्टियों को मिला देने से आ जाती है। वर्तमान समय में मनुष्य प्रकृति के जितना ही अधिक समीप है उतना ही वह अपनी सांसारिक आवश्यकताओं की पूर्ति में समर्थ है। व्यवहार की पूर्ति भी परमार्थ पूर्ति में एक सहकारी साधन है। इसकी अपूर्ति परमार्थ की तरफ बढ़ने नहीं देती। इस सत्य को ही समझकर आज का विज्ञान मनुष्य को प्रकृति के अत्यंत समीप पहुँचने का साधन उपस्थित कर रहा है। विज्ञान का प्रधान कार्य

देश और काल की दूरी को हटाकर मानव और उसके ज्ञान के साथ प्रकृति का निकटतम संबंध स्थापित करना है। मनुष्य के ज्ञान से ये दूरियां जितनी हट जावेंगी वह उतना ही प्रकृति के समीप पहुँच सकेगा और उसे अपने उपयोगपूर्ति का साधन बना सकेगा। जहाँ विज्ञान ने देश-काल की दूरी को हटाने का प्रयत्न किया है वहाँ हमारे पूर्वकालिक कुछ विचारों ने मनुष्य के ज्ञान को जकड़ने का प्रयत्न किया है जिससे अनेकों कठिनाइयाँ पैदा हो गयीं। अतः सारांश यह है कि संस्कृत शिक्षा को सर्वजनीन बनाने के लिए उसमें वर्तमान विज्ञान को अधिक से अधिक स्थान दिया जाना चाहिए। विद्याध्ययन का उद्देश्य सत्य की खोज करना है। सत्य किसी एक देश के साथ बंधा नहीं है। उसके लिए पूर्व और पश्चिम का कोई भेद नहीं। वह कहीं भी हो सकता है और कहीं भी नहीं। पूर्वीय देशों में जिस तरह उसकी स्थिति है वैसी पश्चिम में भी है। सारी विद्याएं हमारे ग्रन्थों में ही हैं पाश्चात्य विद्वानों के ग्रंथों में वे नहीं हैं ऐसा नहीं कहा जा सकता। यह ठीक है कि भारत सब विद्याओं का आकर रहा और संस्कृतसाहित्य उन विद्याओं से पूर्ण है, फिर भी पाश्चात्य विचारकों की विद्या कुछ नहीं, ऐसा नहीं है। प्रत्यक्ष का अपलाप हो नहीं सकता। वर्तमान समुन्नत विज्ञान और अनेक मौलिक पाश्चात्य विचार-धाराओं की उपादेयता को स्वीकार करने से कौन विमुख हो सकता है। भारतीयसाहित्य में ज्योतिष के ग्रंथों में उत्तम श्रेणी का ज्योतिर्विज्ञान पाया जाता है परन्तु इसके प्रधान अंग गणितविज्ञान के मूल तत्व देश और काल का सूक्ष्म विचार नहीं उपलब्ध होता। वर्तमान काल में यन्त्रों की आसानी परीक्षण के विषय में जैसी पायी जाती है वैसी इनसे उसी प्रकार उपलब्ध नहीं होती। इन वस्तुओं का सम्मिश्रण भारतीय ज्योतिर्विज्ञान के अध्ययन में अधिक सहकारी बन सकता है। ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि के विषय में यद्यपि वेद से लेकर-वेदान्त पर्यन्त अनेक ग्रंथों में

स्थान स्थान पर विचार किया गया है परन्तु कुसुमांजलि को छोड़ कर केवल इसी विषय के निबंध के रूप में Theism पर कोई स्वतंत्र ग्रंथ नहीं पाया जाता जब कि पाश्चात्य विद्वानों के अनेक ग्रंथ उपलब्ध होते हैं। आचारशास्त्र के विविध कर्मकाण्डों का वर्णन वेदों में तथा स्मृति ग्रंथों में पाया जाता है परन्तु वेदों में मूलरूप में वर्णन पाये जाते हुए भी, गीता और महाभारत के कुछ विषयों के अतिरिक्त कर्तव्यमीमांसा शास्त्र के मूल सिद्धान्तों का स्वतंत्र दार्शनिक विश्लेषण सम्बद्धता के साथ एक निबन्ध के रूप में नहीं पाया जाता। पाश्चात्य विद्वानों द्वारा लिखी अनेकों पुस्तकें इस विषय की पायी जाती हैं। इसी प्रकार की अन्य बहुत सी बातें हैं जो पाश्चात्यों से ली जा सकती हैं और भारतीय तद्विषयक विज्ञानों के अध्ययन में उनसे विशेष सहायता मिल सकती हैं। मेरा यह विचार नहीं है कि भारतीय वाङ्मय में ऐसी चीजें हैं ही नहीं, केवल इतना ही तात्पर्य है कि बाहरी विद्वानों के सिद्ध प्रयत्नों से इनके साध्य प्रयत्न में बहुत बड़ी सहायता मिल सकेगी और किन्हीं किन्हीं विषयों में तो बिलकुल नवीनता और मौलिकता मिलेगी। इसलिए पाश्चात्यदर्शन, विज्ञान, गणित तथा अन्य विज्ञानों को इस संस्कृत शिक्षा में भारतीय तत्तद्विषयक विषयों के साथ सन्निविष्ट कर देने से इसमें नवीन प्रगति आ जावेगी।

वर्तमान समय में संस्कृत की शिक्षा दो प्रकार से दी जाती है। एक, स्कूल कालेजों में अन्य विषयों के साथ-साथ और दूसरी संस्कृत पाठशालाओं और कालेजों द्वारा एक विषय के रूप में। पहले प्रकार से संस्कृत भाषा की दक्षता उतनी अधिक नहीं प्राप्त होती जितनी दूसरे प्रकार से प्राप्त होती है। विद्यार्थी स्कूल में कुछ थोड़ी सी धातुओं के रूप और शब्दों के रूप, तथा कालेज में कुछ थोड़ी सी पुस्तकें पढ़ लेते हैं, उसमें पर्याप्त ज्ञान विषय का नहीं होता है। उनके लिए संस्कृत में लिखना, बोलना, समझना कठिन होता है। दूसरे प्रकार में संस्कृत में दक्षता आ जाती है

परन्तु वर्तमान विद्याओं का परिज्ञान नहीं हो पाता। वास्तव में दूसरा प्रकार उत्तम है यदि उसमें वर्तमान विद्याओं को सन्निविष्ट कर दिया जावे। इन विषयों के अध्ययन का माध्यम भी संस्कृत ही हो यह कोई आवश्यक वस्तु नहीं। पाश्चात्य दर्शन, विज्ञान, गणित आदि भी संस्कृत माध्यम से पढ़ाये जावें, यह जरूरी नहीं। ये विषय हिन्दी में भी पढ़ाये जा सकते हैं।

शिक्षा चार प्रकार से समृद्ध रूप धारण करती है। वे चारों प्रकार हैं—आगम, स्वाध्याय, प्रवचन और व्यवहार। किसी चीज को पढ़ाने वाले से सावधानतया ग्रहण करना आगम है। गृहीत को अध्ययन द्वारा बढ़ाना स्वाध्याय है। दूसरे पर प्रकट करना प्रवचन और व्यवहार में उसे बर्तना व्यवहार कहलाता है। कोई भी शिक्षा इन चारों साधनों द्वारा संपन्नता को प्राप्त होती है। इनके द्वारा विद्या में वृद्धि होती है। कोई भी शिक्षा जब तक व्यावहारिक रूप न धारण कर ले तब तक उसमें कोरा एकांगीपन और अधूरापन ही रह जाता है। व्यवहार वास्तव में उसके सिद्धि की कसौटी है। इसी में उसका उपयोग है। इन्हीं प्रकारों को प्रकारान्तरसे—अधीति, बोध, आचरण और प्रचार कहा जाता है। अध्ययन तब तक किसी काम का नहीं जब तक बोध न हो। बोध भी आचारण के बिना निकम्मा है। वह बोध किस काम का जो व्यवहार में लाया ही न जा सके? व्यवहार भी समृद्ध तब होता है जब कि उसका प्रचार हो सके। बिना प्रचार के व्यावहारिकता सार्वजनिक नहीं हो सकती है। संस्कृत की प्रगति में यह भी महती बाधा रही है कि एक लम्बे काल से संस्कृत के अध्यापकों और विद्यार्थियों में इन चारों बातों की न्यूनता पायी जाती रही। प्राचीन काल में इन चारों के द्वारा संस्कृत साहित्य में वृद्धि होती रही परन्तु बीच के काल में इनका अभाव होने लगा। संस्कृत साहित्य में जो वस्तुएँ पूर्व उपस्थित थीं उनकी टीका-प्रटीकाएँ और टिप्पण

तो बहुत होते रहे किन्तु उसके भण्डार को नवीन कृतियों से सुशोभित नहीं किया गया, और यदि किया भी कुछ गया तो न के बराबर ही। पिछले कई वर्षों से तो इस दिशा में अत्यन्त शिथिलता ही रही। नवीन मौलिक साहित्य का निर्माण हुआ ही नहीं। कुछ थोड़े से, दो-एक ग्रन्थ लिखे भी गये परन्तु उनसे क्या बनता है। संस्कृत-वाङ्मय जहाँ प्राचीन कृतियों से भरा पड़ा है वहाँ उसमें नवीन कृतियाँ बहुत थोड़ी ही देखी जाती हैं। इस समय तो उसकी वृद्धि में कुछ भी कार्य नहीं किया जा रहा है। इसीलिए संस्कृतभाषा की प्रगति भी पूर्व के स्थान पर ही रुकी हुई है। यदि अध्यापक और विद्यार्थीजन इन पूर्वोक्त चारों बातों का ध्यान रखें तो इस विषय में महान् कार्य हो सकता है और संस्कृत शिक्षा में प्रबल प्रगति आ सकती है।

संस्कृत साहित्य अनुसंधान के लिए एक महान् क्षेत्र है। इसमें अनुसंधान का कार्य बहुत ऊँचे ढंग पर हो सकता है। परन्तु वर्तमान में संस्कृत विद्यार्थियों और अध्यापकों की प्रवृत्ति इस तरफ नहीं पायी जाती। अनेकों अमूल्य ग्रन्थ अभी रही के रूप में पड़े हुए हैं, उनकी ओर लोगों का ध्यान भी नहीं गया। सहस्रशः विषय अछूते पड़े हुए हैं उनकी तरफ किसी ने पग भी नहीं उठाया। यह कुछ पाश्चात्य और एतद्देशीय विद्वानों का प्रयत्न है कि इस दिशा में कुछ कार्य हो सका। यदि संस्कृत के विद्वान् इस कार्य में आगे बढ़ें तो बहुत बड़ा कार्य हो सकता है। विद्यांगों के विज्ञानबद्ध हो जाने से उनके अनुसंधान के प्रकार में भी वर्तमान में बहुत विज्ञानबद्धता आ जाने से उनके अनुसंधानकार्य का संचालन होना चाहिए। संस्कृत शिक्षा में इस विषय को भी प्रधान स्थान मिलना चाहिए। विद्यार्थी और अध्यापकवृन्द की इधर प्रवृत्ति होनी चाहिए। इससे संस्कृत-साध्ययन उदात्त रूप धारण कर लेगा और सत्संबन्धी शिक्षा में दिन-प्रतिदिन नई स्फूर्ति आती जावेगी।

ऐसा भी देखा गया है कि संस्कृत के छात्रों में विज्ञान, इतिहास आदि विषयों के प्रति उपेक्षा-वृत्ति है। वे जितनी संस्कृत के ग्रंथों में रुचि लेते हैं उतनी इन विषयों में नहीं। इसका प्रधान कारण यह है कि पहले से उन्हें इस विषय की शिक्षा नहीं मिली है। उनकी प्रारंभिक शिक्षा में इन विषयों का दिग्दर्शन नहीं है। इस दिशा में अतः ऐसा आयोजन होना चाहिए कि उनकी अभिरुचि इधर अधिक से अधिक रूप में पैदा हो। यह प्रवृत्ति पुरस्कार आदि के द्वारा उत्पन्न की जा सकती है। गणित आदि के कार्य प्रयोगात्मक हैं। प्रयोगात्मक कार्य से ये विद्यार्थी बहुत दूर रहते हैं। लिखने का कार्य पाठशालाओं में बहुत कम होता है। वर्ष में दो-चार बार अनुवाद या लेख आदि लिख लेने में ही परीक्षा की सिद्धि हो जाती है जब कि अँगरेजी स्कूलों में लिखना पढ़ाई का एक प्रधान अंग है। लेखन कार्य आदि की वृद्धि से शिक्षा पूर्णतया व्यावहारिक रूप में अपनायी जा सकती है। ऐसा देखा जाता है कि ग्रन्थ के ग्रन्थ याद कर लिये जाते हैं परन्तु लिखने के समय लोगों को बहुत कठिनाई हो जाती है। कई अपवाद-व्यक्ति तो ऐसे हैं कि एक पत्र लिखने में उनका सारा दिन लग जाता है।



शिक्षा में मनोविज्ञान की स्थिति

किसी समय लोग किन्हीं द्वीपों की भाषाओं और तत्सम्बन्धी नियमों को रटकर जान लेना ही शिक्षा की चरम सीमा समझते थे। परन्तु जब से विज्ञान ने भूमण्डल पर अपना पद रखा तब से लोगों की प्रवृत्ति तोता रटान से हटकर उस सीमा को उल्लंघन करके उससे पृथक् अपनी उद्देश्यसीमा का निर्धारण करने को अग्रसर हुई। शिक्षा के उद्देश्य-परिवर्तन के साथ-साथ विधान समय समय पर परिवर्तित होते गये। विज्ञान धारा के अविच्छिन्न प्रवाह ने शिक्षाशास्त्र के पुराने स्तम्भों को हिला दिया। इसकी वृद्धि के साथ-साथ शिक्षा में मनोविज्ञान ने स्थान लिया। मनोविज्ञान के अनुसंधानों ने शिक्षा की प्रणाली में नया जीवन डाल दिया। आज समूचे शिक्षा-क्षेत्र पर उसका अधिकार है। ईसा की पंचम शती पूर्व से लेकर इस बीसवीं शताब्दी तक इस विज्ञान ने शिक्षा के कलेवर को परिष्कृत कर मनोज्ञ बना दिया है। यही इस दिशा में इसके प्रधान स्थान ग्रहण का कारण भी है। आज कोई भी व्यक्ति इस तथ्य से मुँह नहीं मोड़ सकता कि शिक्षा में मनोविज्ञान का एक उच्च स्थान है।

मनोविज्ञान ने जहाँ शिक्षा में बद्धमूल पुरानी धारणाओं में परिवर्तन किया, वहाँ यह एक सार्वजनिक तथ्य है कि वह भी परिवर्तनों से बचा

नहीं रहा। ईसवी पाँच सौ वर्ष पूर्व से लेकर मनोविज्ञान में अब तक बराबर परिवर्तन होते रहे। ऐसा भी समय आया कि इसकी परिभाषा भी एक बार नहीं अनेक बार परिवर्तित हुई। भविष्य में इसका स्वरूप स्थित रहेगा, यह कहना मानवी बुद्धि और अन्वेषणों पर ताला लगाना होगा। आगे के अन्वेषण इसे कहाँ पहुँचायेंगे अभी से कहा नहीं जा सकता। प्रारंभिक अवस्था का मनोविज्ञान आत्मा के ऊपर आधारित था। आत्मा की भिन्न भिन्न शक्तियाँ हैं जिनका अध्ययन मनोविज्ञान का प्रधान विषय था। ज्ञान का केन्द्र उस समय मस्तिष्क को न मानकर हृदय को माना जाता था। फिर भी यह नहीं था कि अल्प संख्या में लोग मस्तिष्क को ज्ञानकेन्द्र न मानते रहे हों। आत्मा की तीन क्रियाएँ कुछ विद्वानों में उस समय तक प्रचलित हो चुकी थीं—भरण-पोषण क्रिया, अनुभूति-क्रिया और बौद्धिक क्रिया। वृत्तों में प्रथम, पशुओं में प्रथम दोनों और मनुष्य में तीनों मानी जाती थीं। ज्ञान की मीमांसा करते हुए यह विचारधारा प्रबल थी कि प्रत्येक शरीर के नाड़ी आदि अवयवों में एक विशेषशक्ति है जिसपर बाह्य पदार्थ की गति पड़ती है और उस माध्यम के द्वारा वह हृदय-देश में प्रविष्ट होती है जिससे ज्ञान हृदय में पैदा होता है। परन्तु यह ज्ञान हृदय को नहीं होता आत्मा को होता है जिसमें ज्ञान के साथ अन्य अनेकों गुण हैं। इन भिन्न भिन्न शक्तियों का अध्ययन उस समय मनोविज्ञान का विषय था। शिक्षा भी उस समय इससे सम्बद्ध थी। इसका उद्देश्य बालक में भिन्न भिन्न आत्मशक्तियों का जागरूक करना और विकसित करना था। इस दशा में मनोविज्ञान दर्शनशास्त्र का एक अंग समझा जाता था, स्वतंत्र शास्त्र नहीं।

शताब्दियाँ बीतने के बाद वैज्ञानिक युग का उदय हुआ। नूतन आविष्कारों और विद्वानों के सतत प्रयत्नों ने यांत्रिक नियम के परिणाम पर पहुँचाया। हर एक बात का विचार इस दृष्टि से होने लगा और

मनोविज्ञान में भी इस प्रवृत्ति ने प्रवेश किया। आत्मवादी मनोविज्ञान में जहाँ आभ्यन्तरीय-प्रेक्षा का प्राबल्य था, वहाँ विज्ञान ने बाह्य-प्रेक्षा पर बल दिया। धारा बिलकुल ही बदल गयी। अब आत्मा को अध्यात्मशास्त्र का विषय कहकर पृथक् कर दिया गया और मनोविज्ञान का कार्य उन मानसिक क्रियाओं का अध्ययन करना ठहराया गया जो शरीर के यंत्रवत् चलने से शरीर में हो रही हैं। परन्तु इतने पर ही पर्याप्ति नहीं समझी गयी और एक विचार उठ खड़ा हुआ कि आत्मा और मन आदि अस्पष्ट हैं। इनका स्पष्ट अर्थ किसी की समझ में नहीं आता। जो कुछ भी इनका अनुभव है, हमें चेतना द्वारा होता है। इस चेतना का अनुभव प्रत्येक को होता है। अतः सुगम मार्ग यही है कि अबसे मनोविज्ञान का विषय 'आत्मा' या 'मन' नहीं अपितु चेतना समझा जावे। इस प्रकार इस विचारधारा ने मनोविज्ञान का विषय चेतना को ठहराया और परिणामतः ज्ञानमीमांसा का भी समन्वय उसी ढंग पर होने लगा, यह धारणा प्रबल होने लगी कि आत्मा और मन अज्ञेय हैं उन्हें किसी ने देखा या जाना नहीं। हाँ! हमारे अनुभव में यह आता है कि हममें चेतना है। यह भी प्रत्यक्षशून्य है और इसमें बाहर से विचार, प्रत्यक्ष आते-जाते रहते हैं। ज्यों-ज्यों यह संसार के संपर्क में आती है त्यों-त्यों प्रत्ययों (Ideas) का संग्रह होता जाता है। इन प्रत्ययों का आपस में संबंध जुड़ता जाता है। प्रत्ययों का क्रम बराबर चलता रहता है और इस प्रवाह के अविच्छिन्न गति से चलते रहने के कारण हमारे स्मृति, अनुभव आदि सब कुछ प्रत्यय-सम्बन्धसिद्धान्त (Association of Ideas) से समझ में आ जाते हैं। एक प्रत्यय का दूसरे के साथ सम्बन्ध कैसे जुड़ता है इसका उत्तर प्रत्ययवादी देते हैं कि अभ्यास, नवीनता और प्रबलता के कारण। इस वाद से आत्मा की विभिन्न शक्तियों का वाद समाप्त हो गया परन्तु मानसिक क्रियाओं का अध्ययन बराबर होता रहा। कुछ दिनों के बाद

अन्तःकरण के ज्ञान और प्रयत्न इन दो विभागों के स्थान में ज्ञान, प्रयत्न और संवेदन तीन विभाग माने जाने लगे। इसके अनन्तर शरीर-रचना विज्ञान और मस्तिष्कविज्ञान का भी प्रभाव मनोविज्ञान पर हुआ।

विचारों ने पुनः एक धक्का दिया है और मन की इन तीन गतियों को भी समाप्त किया गया। ज्ञान में ही संवेदन और प्रयत्न निहित हैं, संवेदन में ज्ञान तथा प्रयत्न और प्रयत्न में ज्ञान तथा संवेदन है, इस विचार ने जोर पकड़ा। इसने मानसिक प्रक्रिया को एक वस्तु ठहराया और उसके तीन विभागों का निराकरण कर दिया। इस दौरान में शिक्षा का सिद्धान्त इसके अनुसार यह माना जाने लगा कि बालक का मन एक इकाई है और उसका मनोविज्ञान के ढंग पर विकास करना शिक्षा का कार्य है। बाद में मनोविज्ञान पर प्राकृतिक-विज्ञान का प्रबल्य बढ़ा और उसका काम प्राणी की प्राकृतिक शक्तियों पर विचार करना रह गया। शिक्षा विज्ञान ने भी इसके अंचल में रहते हुए स्वभावज प्रवृत्ति (Instincts) पर विचार करना प्रारंभ किया। इस विचार ने यह धारणा दृढ़ की कि प्राणि-संसार में अपना जीवन कायम रखने के लिए तथा संतति के रक्षार्थ कुछ प्राकृतिक शक्तियाँ होती हैं जो उसकी मानसिक तथा शारीरिक रचना का भाग होती हैं। इन्हें सीखना नहीं पड़ता ये निसर्गतः प्राणी के साथ आती हैं और उसके व्यवहारों से प्रकट होती हैं। इस विषय को प्रधान बनाकर शिक्षा के मनोविज्ञान में विविध परिवर्तन किये गये।

इस प्रकार यह देखा गया कि पहले मनोविज्ञान ने आत्मा अथवा मन का अध्ययन प्रारंभ किया, तत्पश्चात् उसका भी परित्याग कर चेतना का आश्रय लिया। चेतना को भी छोड़कर मस्तिष्क की तरफ मुका और अब उसे भी तिलांजलि देकर वह मनुष्य के बाह्य व्यवहार का आश्रय ले रहा है। इस पल्ये से शिक्षा-मनोविज्ञान को निरन्तर परिवर्तन का मुँह देखना पड़ा क्योंकि इसकी प्रक्रिया उसके नियमों पर आधारित है। पूर्व-

काल में अध्ययन का प्राबल्य स्मृति के आयास पर था परन्तु अब वह इन्द्रियों के आयास पर आधारित है। अब स्मृति को अधिक काम में नहीं लाया जाता इन्द्रियों को कार्य में लाया जाता है। वर्तमान सभी शिक्षा-प्रणालियों का यही मूल है।

इतने संघर्ष के बाद इस समय तक मनोविज्ञान की जो शाखाएँ अस्तित्व में आयी हैं—वे हैं—शुद्ध मनोविज्ञान (Pure Psychology); व्यक्तिसम्बन्धी-मनोविज्ञान (Individual Psychology); सामुदायिक-मनोविज्ञान (Group Psychology); समाज संबंधी-मनोविज्ञान (Social Psychology); क्रियात्मक-मनोविज्ञान (Applied Psychology)। इस क्रियात्मक-मनोविज्ञान ने शिक्षा-मनोविज्ञान, औद्योगिक-मनोविज्ञान और धर्ममनोविज्ञान के स्वरूप को धारण किया है। परन्तु इनके अतिरिक्त भी इस विज्ञान की शाखाएँ पायी जाती हैं। ये पशु-जगत्, अस्वस्थ मनुष्यों, और तुलनात्मक मनोविज्ञानों के अध्ययन से प्रादुर्भूत हुई हैं।—इनमें Animal Psychology; Comparative psychology; Abnormal Individual psychology; तथा Abnormal Group Psychology हैं। बालक में क्या क्या स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ कार्य कर रही हैं, इनको किस प्रकार शिक्षा के कार्य में लाया जा सकता है, यह सभी सहायता शुद्ध मनोविज्ञान स मिलती है। बालक का अपना स्वरूप व्यष्टि और समष्टि वाला है—स्वतः वह व्यक्ति है परन्तु प्रतिक्षण सम्बद्ध समाज या समूह से है अतः शिक्षा में इन सम्बन्धी मनोविज्ञानों से सहायता मिलती है। रोगियों की मानसिक रचना के अध्ययन से भी शिक्षा-मनोविज्ञान ने कई प्रश्नों को सुलझाया है। शिक्षा-मनोविज्ञान बहुत कुछ बालक की प्रकृति, उसकी प्रवृत्तियों, उसके स्वभाव, उसके व्यवहार आदि का अध्ययन है। सभी विज्ञान की शाखाएँ इसकी जी-जान से सहायता करती हैं। एक बात यहाँ पर स्मरण रखने की है कि बाल-मनोविज्ञान, पशु-मनोविज्ञान और

अस्वस्थमनोविज्ञान (Abnormal Psychology) के विशेष अध्ययनों ने शिक्षा में 'व्यवहार' (Behaviour) के विषय को उत्थान दिया। अन्तःप्रेक्षा पर अब वह जोर नहीं जो कि बाह्यप्रेक्षा पर है। यह सब व्यवहारवाद का ही परिणाम है। इसके साथ साथ शिक्षा-मनोविज्ञान से अन्य कई वाद घनिष्ठ सम्बन्ध रखते हैं। व्यवहारवाद (Behaviourism) के अतिरिक्त वे वाद हैं—सत्तावाद (Existentialism) मनोविश्लेषण (Psycho-Analysis,) और प्रयोजनवाद (Purposivism)। इन सभी विज्ञानों ने शिक्षा के सिद्धान्तों को दृढ़ीभूत किया है। परन्तु अब शिक्षा इतने पर ही सन्तुष्ट न होकर प्राणिशास्त्र (Biology) से भी सम्बन्ध जोड़ने लगी है और उसमें प्रयोगात्मक क्रियाओं (experiments) का बाहुल्य है। इस प्रकार यह देखा गया कि मनोविज्ञान किसी भी स्थिति से गुजरा हो परन्तु शिक्षा में उसका स्थान महत्त्वपूर्ण है।

शिक्षा में मनोविज्ञान का अधिक महत्त्व होते हुए भी यह जानना आवश्यक है कि मनोविज्ञान अध्यापनविधि का मुख्य आधार है उसका कार्य शिक्षा के उद्देश्य का निर्धारण करना नहीं। कई लोग इस बात को भूल जाते हैं और मनोविज्ञान को अवांछनीय महत्त्व इस क्षेत्र में देने लगते हैं। शिक्षा का उद्देश्य निर्धारण दर्शनशास्त्र करता है क्योंकि शिक्षा का उद्देश्य क्या है? इस प्रश्न का समाधान मनुष्य-जीवन के उद्देश्य के साथ सम्बद्ध है। मनुष्य-जीवन क्या है? और उसका उद्देश्य क्या है? जब तक इन प्रश्नों को समाहित न कर लिया जावे तब तक शिक्षा के उद्देश्यों का निर्णय कठिन है। पाश्चात्य विज्ञान ने आधिभौतिक क्षेत्र के आगे पदार्पण नहीं किया इसलिए वह शिक्षा के उद्देश्य को भी उससे बाहर नहीं जाने देता। यही प्रधान कारण है कि यह शिक्षा-प्रणाली प्रकृतिवाद से परे हमें नहीं ले जाती। भारतीय दृष्टिकोण इससे बहुत भिन्न है। शिक्षा के विषय में उसका भी समन्वय हमारे लिए परमावश्यक है।

पाश्चात्य मनोविज्ञान, दर्शन, विज्ञान आदि इस बात पर बल दे रहे हैं कि आध्यात्मिक, आधिदैविक विचार-धाराएँ किसी वाद के पूर्वावस्था की स्थिति में हैं। अन्तिम और पारिर्माजित स्थिति आधिभौतिक या प्रकृतिवाद की है। आत्मा धर्म आदि के विचार प्राथमिक अवस्था के मनुष्यों के हैं, सभ्य समुन्नत अवस्था के मनुष्यों के विचार का विषय विज्ञान का केन्द्रभूत तत्त्व प्रकृति है। इस धारणा के अनुसार किसी विज्ञान अथवा दर्शन के सिद्धान्त के गुजरने की स्थितियों का क्रम आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक (Metaphysical, Theological तथा Positive) है। ऊपर कथित मनोविज्ञान भी इसी क्रम से निकलकर आ रहा है। परन्तु भारतीय धारणा इस क्रम के विपर्यय की ओर संकेत करती है। उसके अनुसार अधिभूतवाद प्राथमिक स्थिति है तदनन्तर अधिदैव और तत्पश्चात् अध्यात्मवाद है। उसके साथ ही मानव-जीवन का सम्बन्ध और उद्देश्य जुड़े हुए हैं। इसका मनोविज्ञान और तदनुरूपी शिक्षा-विज्ञान भी इस धारा के अनुसार ही होना चाहिए। ऊपर दिखलाये गये, क्रम से पता चलता है कि पाश्चात्य मनोविज्ञान ने आत्मा को किस प्रकार ठुकराया जब कि भारतीयता उसमें आत्मा को सन्निहित रखती है। वास्तव में मन की क्रियाओं को विचार का रूप धारण करने तक जिन जिन अवस्थाओं से गुजरना होता है उनका समन्वय आत्मा के बिना संभव नहीं। जिन इन्द्रियों द्वारा बाह्य पदार्थों का अनुभव होता है, उनकी रचना ऐसी है कि एक को दूसरे का ज्ञान नहीं प्राप्त होता है। यह भेद स्वाभाविक है। इन्द्रियों द्वारा प्राप्त अनुभव, अनुभव के भिन्न-भिन्न कणमात्र रहेंगे जब तक कि इनको जोड़नेवाली सत्ता स्वीकार न की जावे। मन भी एक इन्द्रिय है। वह इस अनुसंधान में समर्थ नहीं। जब तक इन भिन्न-भिन्न अनुभवों का सम्बन्ध न जुड़े स्मृति की स्थिति ही नहीं बनती। इस अनुसंधान करने वाली शक्ति को भारतीय दर्शन आत्मा कहते हैं। जिसके अस्तित्व के

कारण ही स्वाद से अनुभूत फल के आँख के सामने आते ही यह खटक जाता है कि यह वही है जिसको कल खाया था। झूम आदि ने जो आदत आदि के सहारे पर अनुभवों की स्मृति बतलायी है वह कोरी कल्पनामात्र है। बिना आत्मा के आधार के यह स्मृति-समुद्भव संभव नहीं। पाश्चात्य मनोविज्ञान इस विषय में लँगड़ा है। वह मन की स्थितियों पर तो विचार करता है परन्तु मन और आत्मतत्त्व के सम्बन्ध को जिस पर ये स्थितियाँ चलती हैं छोड़ देता है। आत्मतत्त्व का शरीर में अस्तित्व माने बिना मन का खेल ही असंभव है। यही कारण है कि भारतीय मनोविज्ञान प्रत्येक इन्द्रियानुभव और मनः प्रवृत्ति के साथ आत्मा का सम्बन्ध जोड़ता है। भारतीयदर्शन स्पष्ट करता है कि “आत्मा मन से संयुक्त होता है मन का इन्द्रिय से संबंध होता है तब प्रत्यक्ष ज्ञान होता है”। यह एक ऐसी सच्चाई है कि जिससे मुख नहीं मोड़ा जा सकता। “यह गाय है” इतनी अनुभूति ही ज्ञान के लिए पर्याप्त नहीं। बल्कि “यह गाय है, मैं जानता हूँ” यहाँ पर इसकी परिसमाप्ति होती है। इस ज्ञान के साथ “यहाँ हूँ” का अबाध अस्तित्व विद्यमान है। ऐसे ही मन के सारे अनुभवों और ज्ञानात्मक क्रियाओं में समझना चाहिए। इसी आधार पर हम दर्शन की इस सच्चाई को स्वीकार करते हैं कि सृष्टि के प्रत्येक पदार्थ का मापदण्ड आत्मा है। इस आत्मा से भारतीयता का दृष्टिकोण विश्वात्मा की तरफ ले जाता है और यही मानव-जीवन का चरम उद्देश्य है।

पशु-मनोविज्ञान से शिक्षा सिद्धान्तों को जोड़ना भी समुचित नहीं। पशु की प्रवृत्तियों की बालक से पूरी समता नहीं दी जा सकती। पशु में अपनी रक्षा का ज्ञान स्वाभाविक है। भैंस का बच्चा पैदा होने के बाद पानी में डालने पर तैरता है और बाहर आ जाता है। परन्तु मनुष्य के बच्चे में यह बात नहीं। बच्चा ही क्यों बहुत से बूढ़े होने तक तैरना नहीं जानते। फिर दोनों की प्रवृत्तियों की समता ही क्या। इसके आधार पर शिक्षा को

बढ़ नहीं किया जा सकता और न कोई ऐसा मानदण्ड ही बनाया जा सकता है जो बालक और पशु के बच्चे में समान हो ।

इसलिए केवल पाश्चात्य मनोविज्ञान पर ही हमें सन्तुष्ट न रहकर भारतीय मनोविज्ञान का भी समन्वय कर शिक्षा के क्षेत्र में बढ़ना चाहिए । भारतीय मनोविज्ञान अध्यात्मानुप्राणित है । उसको ही हमें शिक्षा में इस मनोविज्ञान के साथ समन्वित कर बर्तना चाहिए ।



हमारे शिक्षक और विद्यार्थियों में अपनी 'स्कृति' के लिए उच्च भाव हो

किसी देश का भूत उसके भविष्य का उन्नायक है । जातियों के उत्थान पतन में राष्ट्रों के उत्थान का बीज निहित है । धरा पर जातियों का उत्थान और पतन होता है परन्तु उनकी परम्परा अक्षुण्ण बनी रहती है । यही उनके भावी वंशजों को प्रेरणा और स्फूर्ति प्रदान करती है । किसी राष्ट्र के निर्माण का भार उसके अध्यापक और नवयुवकों पर है । यही उसके प्राण हैं और सदा उसे आगे ले चलनेवाले हैं । परन्तु यह सब कुछ स्वदेशज शिक्षा पर अवलम्बित है । शिक्षा को स्वदेशज बनाने में स्वदेशज संस्कृति के अपनाने की आवश्यकता है । जिस देश के अध्यापक और छात्र वर्ग को अपनी स्वदेशज संस्कृति के प्रति गर्व न हो, वे कभी अपने देश और जाति को समुन्नत करने में समर्थ और कृतकार्य नहीं हो सकते । वास्तव में स्वदेशज शिक्षा और स्वदेश-भक्ति की पूर्व-पीठिका स्वदेशीय संस्कृति है । राष्ट्रियता जो देश-भक्ति का ही एक रूपान्तर है, तीन तत्त्वों से ओतप्रोत है । मातृभाषा, मातृसंस्कृति और मातृभूमि । ये ही राष्ट्रियता के प्राण हैं । कोई भी स्वदेशज व्यक्ति अपने को देशभक्त नहीं कहला सकता जब तक उसे इन तीन मौलिक तत्त्वों में आस्था न हो ।

हमारे शिक्षक और विद्यार्थियों में अपनी संस्कृति के लिये उच्च भाव हो

हमारे देश में स्वतंत्रता को प्राप्त करने के पश्चात् संस्कृति के विषय में एक लहर चल पड़ी है। परन्तु संस्कृति का तत्त्व क्या है ? इसके समझने पर अधिक बल नहीं दिया जा रहा है। यह केवल रंगमंचों और सम्मेलनों का विषय नहीं। यह तो साहित्य के प्रसार से ही स्थायी रूप से पूरा किया जा सकता है। यह एक अत्यन्त प्रसन्नता का विषय है कि “शिक्षा” इस मार्ग में बहुत लाभकारी सेवा कर रही है। इसका सारा श्रेय उत्तरप्रदेशीय शिक्षा-विभाग के अधिकारियों को है कि जो इस पत्रिका द्वारा संस्कृति और शिक्षा के लिए महान् कार्य कर रहे हैं। अन्य प्रान्तों को भी इसका अनुकरण करना चाहिए। अस्तु संस्कृति क्या है ? इस पर थोड़ा विचार अपेक्षित है। संस्कृति पर विचार करते हुए बहुधा लोग उसके बाह्य रूपों पर ही बल देते हैं और आभ्यन्तरीय स्वरूप को छोड़ देते हैं जिससे उसके मूल्यांकन में एक प्रकार की न्यूनता रह जाती है। वस्तुतः आभ्यन्तरीय दृष्टि पर अधिक बल देने की आवश्यकता है। संस्कृति शब्द का भाव संस्कार और परिमार्जन है। इसे शब्दान्तर से परिष्कार भी कहा जा सकता है। किसी राष्ट्र या जाति के प्रत्येक क्षेत्र में परिष्कृत और परिमार्जित परम्पराएँ ही उसकी संस्कृति का रूप समझी जाती हैं। मनुष्य एक विचारात्मक प्राणी है। उसके अन्दर अनेकों प्रकार की बीजशक्तियाँ भरी पड़ी हैं, उनको समुन्नत करना ही वास्तव में संस्कृति है। मानवी शक्तियों को पूर्णतम विकास पर पहुँचाना ही इसका परम तत्त्व है। भारतीय वाङ्मय में विशेषतः वैदिक ग्रन्थों में समुन्नत मनुष्य को “कृष्टि” Cultured man कहा गया है। कृष्टि शब्द का मूल ‘कृष्’ है जिसका अर्थ उत्पन्न करना अथवा विकास में लाना है। कृषि पद जिसका अर्थ खेती है वह भी इसी मूल से निकला है। जिस प्रकार कृषक बीज को विकास में लाकर उसे अन्तिम उन्नतरूप देता है और वह उत्तम कृषक माना जाता है उसी प्रकार जिस

मानव की सभी आभ्यन्तरीय शक्तियाँ विकास को प्राप्त हो गयी हों वह “कृष्टि” कहलाता है। हमारा साहित्य, संस्कृति और सभ्यता इन दोनों शब्दों के प्रयोग से भी रिक्त नहीं। वैदिक साहित्य से लेकर आधुनिक साहित्य तक में इसके प्रयोग प्रचुरता से पाये जाते हैं। अब ये दोनों एकार्थक माने जाने लगे हैं परन्तु दोनों में अन्तर अवश्य है। वह अन्तर इतना ही है कि सभ्यता संस्कृति के अन्तर्गत है। संस्कृति का अर्थ उससे विशाल, विस्तृत और व्यापक है। सभ्यता केवल सभा, समाज सम्बन्धी उन्नतियों से सम्बद्ध है जब कि संस्कृति मानव-क्षेत्र की प्रत्येक उन्नति को लिये हुए है। अँगरेजी में भी इसके लिये Culture और Civilization दो प्रकार के शब्दों का प्रयोग होता है। लोग दोनों को समानार्थक समझते हैं परन्तु दोनों हैं थोड़े से भिन्न। Culture पद लेटिन भाषा की Colere मूल से बना है जिसका अर्थ उत्पन्न करना till और पूजा करना worship है। इनमें से एक उत्पत्ति के अर्थ को लेकर सभी परिष्कारों के अर्थ में प्रयुक्त है जैसा कि Agriculture, Horticulture आदि पद व्यक्त करते हैं, और दूसरा अर्थ धार्मिक विश्वासों और सिद्धान्तों के रूप को धारण कर Cult के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा। अतः Culture पद से Refinement और Cult दोनों का बोध किया जाता है। इसका व्यापक अर्थ सभी प्रकार के परिष्कारों refinements से सम्बन्ध रखता है। इसलिए संस्कृति वह है जो मानव में निहित सभी शक्तियों का विकास-परिणाम है। इस प्रकार culture जहाँ सभी परिष्कारों के अर्थ को लिये ह वहाँ civilization का अर्थ सीमित है और वह culture के ही अन्तर्गत है। अँगरेजी का यह civilization पद Civil जिसकी क्रिया civilize है, से बना है। civil के अर्थ सभ्य सभा से सम्बद्ध अथवा नागरिक के हैं। नागरिकता सम्बन्धी बातों, चाहे वे समाज की हों या राष्ट्र की, इसके अन्तर्गत आ जाती हैं। समाजसम्बन्धी प्रत्येक प्रकार की उन्नति सभ्यता

हमारे शिक्षक और विद्यार्थियों में अपनी संस्कृति के लिये उच्च भाव हो

तो कहला सकती है परन्तु यह ही संस्कृति है, ऐसा कहना संस्कृति के क्षेत्र को संकुचित करना है। संस्कृति का ही अंग सभ्यता भी है परन्तु वह इससे कुछ और भी है। भारतीय संस्कृत साहित्य का “सभ्यता” शब्द भी इसी प्रकार का है। सभा में होनेवाले को ‘सभ्य’ कहा जाता है और उसके भाव का नाम सभ्यता। सभ्यता, सामाजिकता, नागरिकता आदि पदों के विवेचन से इस पर विशेष प्रकाश पड़ता है।

इस प्रकार देखा गया कि सभ्यता और संस्कृति में थोड़ा सा भेद अवश्य है परन्तु दोनों का समानार्थक प्रयोग कुछ काल से होने लग गया है और आज दोनों एक ही समझे जाने लगे हैं। इन्हें समानार्थक मान कर ही प्राच्य और प्रतीच्य संस्कृतियों का भेद भी खड़ा हो गया है। कुछ लोग केवल सभ्यता को ही संस्कृति समझकर समाजोत्कर्ष से आगे नहीं बढ़ते और समाज तथा राष्ट्र का उत्थान ही संस्कृति समझते हैं। ये सामाजिक उत्थान, राष्ट्रिय उत्थान और अन्तर्राष्ट्रिय उत्थान तक ही मानव-उन्नति और परिष्कारों की चरम सीमा समझते हैं। समाज संपूर्ण उन्नत वस्तु complete product नहीं है। यह एक ऐसी चीज है जो सदा उन्नति के क्रम Process में है। इसकी उन्नति करना ही मानव-जीवन का ध्येय है ऐसी विचार धारा इस लोक सम्बन्धी अभ्युत्थान से आगे नहीं जाती। समाज की उन्नति से ही व्यक्तियों को सुख हो सकता है अतः सब मिलकर उसकी ही उन्नति करें, इस विचार ने आज पाश्चात्य संस्कृति में जोर पकड़ लिया है। राष्ट्र भी एक उन्नत समाज ही है अतः उसके उत्थान में ही सब कुछ समझना चाहिए। उसमें ही शक्ति को एकत्र करना चाहिए उसके ऊपर और कुछ नहीं। यह भावना ही बढ़कर स्वार्थ का रूप धारण कर लेती है। इसीलिए एक राष्ट्र दूसरे को हड़पना बुरा नहीं समझता। परिणामतः जो जितना ही शक्ति-सम्पन्न है वह अपने को उतना ही सभ्य समझता है। ऐसा प्रत्येक सभ्य राष्ट्र यही समझता है कि

हमारी सभ्यता का माप यही है कि हम कितने शक्तिशाली हैं। इस विचार-धारा में सिंह बनना ही सभ्यता की इतिश्री है।

परन्तु केवल सिंह बनना मानव-जीवन का अन्तिम उद्देश्य नहीं है। मानवता सिंहपने से पृथक् वस्तु है। सिंह को तर्कशास्त्र से प्यार नहीं, उसको तो उतने से प्यार है जितने में उसके पंजे पहुँचते हैं। यदि मनुष्य भी ऐसा ही करने लगे तो संसार से शान्ति और सुख का अन्त हो जावे। सारा समाज स्वार्थ में परिणत हो संसार में रक्तपात के अतिरिक्त और कुछ भी दृष्टिगोचर न हो। इसलिए सिंहता में सभ्यता नहीं, मानवता में है। मानवता सिंह की भाँति इसे मानव के खून की प्यासी नहीं बनाती अपितु विचार कर कार्य करने और एक दूसरे के लिए त्याग की भावना का पाठ पढ़ाती है। वह अपने स्वार्थ को दूसरे के हित त्यागने की प्रेरणा देती है। समाज केवल समुदाय का नाम नहीं। समाज वह है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति समाज के दूसरे व्यक्तियों के लिए कुछ त्याग करता है। सामाजिक वह है जो समाज की रक्षा करता है। वह नहीं जो इसका उच्छेद करता है। पशु-समुदाय को “समज” कहा जाता है। क्योंकि वह समुदाय-मात्र है। परन्तु मनुष्य समाज में प्रत्येक की परस्पर उन्नति चाहता है इसलिए उसका समुदाय समाज है। यह समाज स्थित क्यों है? सिंह बनने से नहीं अपितु मनुष्य बनने और त्याग करने से। समाज में मनुष्य की स्थिति सिंहवत् माननेवाले लोग मानवता, त्याग और उदारता को सभ्यता का अंग नहीं मानते हैं जब कि भारतीय संस्कृति में इनका प्रधान स्थान है। सभ्यता के इसी रूप ने व्यक्ति के उत्कर्ष को भी समाप्त कर दिया। व्यक्ति का मान समाज की एक इकाई के अतिरिक्त और कुछ नहीं रह गया। मनुष्य स्वयं क्या है? वह समाज का उत्कर्ष क्यों चाहता है? उसका यह जीवन ही सब कुछ है या इससे अगले जीवन का भी कुछ संबंध है इत्यादि भी तो प्रश्न हैं जिनका समाधान इस सभ्यता में नहीं

हमारे शिक्षक और विद्यार्थियों में अपनी संस्कृति के लिये उच्च भाव है

दिया जा सकता। वास्तव में इन प्रश्नों का समाधान जिसमें हो वही संस्कृति है।

सभ्यता और संस्कृति में भेद मानने पर पुनः यह प्रश्न होता है कि संस्कृति क्या है ? जिसका सभ्यता भी एक अंग है। विचार से देखा जावे तो ज्ञात होगा कि मानव में स्थित सभी शक्तियों के बीज का पूर्ण विकास अथवा परिष्कार संस्कृति है और सभ्यता केवल उसकी समाज सम्बन्धी शक्तियों के विकास का नाम है। मानवी-परिष्कारसम्बन्धी सभी बातों को समन्वित करने के लिए संस्कृति (culture) के तीन अर्थ माने जाते हैं। इनमें प्रथम भावना, कला और भाषा सम्बन्धी परिष्कारों से सम्बन्ध रखती है। दूसरी मानवविज्ञान-सम्बन्धी (Anthropological) सांस्कृतिक धारणा, जो संस्थानों, परिभाषाओं और आदर्शों से संबंध रखती है। इसे ही कभी कभी सभ्यता के नाम से कहा जाता है। तीसरी धारणा धर्मविज्ञान अथवा कर्तव्यमीमांसा के विचार से सम्बद्ध है। इसी के अनुरूप संस्कृति से ९ बातों का सम्बन्ध माना जाता है। ये ही इसके नौ प्रकार भी कहे जा सकते हैं। ये हैं—कृषि (Agriculture); उद्योग (Industry); भाषा (language); साहित्य (literature); कला (Arts); विज्ञान (Science); नीति (Morality); दर्शन (Philosophy); और धर्म (Religion) जब हम कहते हैं भारतीय संस्कृति तब हमें उन सभी भारतीय परिष्कारों को समझना चाहिए जो इन विषयों से समन्वित हैं। इनका भारतीयों में कहीं तक विकास हुआ था और वे किस परिणाम पर पहुँचे थे, यह ही संस्कृति के परिज्ञान से हमें ज्ञात होता है। हमारे देश का भूत इस बात का साक्षी है कि उसने इन सभी विषयों में एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया था। दर्शनशास्त्र और ज्योतिर्विज्ञान, आचार-शास्त्र आदि के विषय में तो कहना ही क्या ? यदि अध्यापक और विद्यार्थी वर्ग अपने देश के इस सांस्कृतिक स्तर को समझें और उससे प्रेम कर प्रेरणा लें तो राष्ट्र को आदर्श बना सकते हैं।

आजकल हमारा देश एक धर्म-निरपेक्षगणराज्य है। इसलिए यह विचार उपस्थित हो सकता है कि ऐसे राज्य में संस्कृति के तत्त्व-धर्म के लिए कोई स्थान ही क्या हो सकता है। परन्तु यह धारणा निर्मूल है। राज्य का कोई धर्म इस प्रकार के राज्य में नहीं हो सकता परन्तु व्यक्तियों के धर्म में कोई बाधा नहीं। शासन धर्मनिरपेक्ष ही रहेगा, उसका अपना कोई विशेष धर्म नहीं होगा परन्तु राष्ट्र में सभी धर्मों के साथ समव्यवहार और उनकी उन्नति में राज्य बाधक नहीं होगा। सभी को समभाव से फलने-फूलने का अधिकार होगा। (Secularism) का अर्थ धर्म की निरपेक्षता नहीं अपितु धर्म के ऊपरी आडम्बरों की निरपेक्षता है। ये ऊपरी आडम्बर संप्रदायवाद के रूप में धर्म को परिणत कर देते हैं जिसका इसमें कोई स्थान नहीं। परन्तु धर्म का विशुद्ध तत्त्व जो समाज और व्यक्ति दोनों की उन्नति का सोपान है उसकी उपेक्षा कभी न तो किसी ने की और न हो सकती है। धर्म का वह रूप जो विश्वभावना, वसुधैव कुटुम्बकं, की उदात्त प्रेरणा और अध्यात्मवाद के तत्त्वों से ओत-प्रोत है, उसे मिटाया नहीं जा सकता और न (Secularism) से उसका विरोध ही हो सकता है। आध्यात्मिक भावना धर्म का वास्तविक तत्त्व है। यह किसी भी अवस्था में दूर नहीं की जा सकती। यदि मानव में यह भावना नहीं है तो वास्तव में विशाल मानव-परिवार, जो वसुन्धरा पर विराजमान है, उसे किसी भी प्रकार अपने समान रूप में नहीं देख सकता। उसे यह भी ज्ञान नहीं हो सकता कि वह विश्व के मानव-परिवार का एक व्यक्ति है। प्रकृतिवाद में मानवता का उद्देश्य धुँधला है जब कि अध्यात्मवाद में वह स्पष्ट है। महामानव गांधी ने जिस मानवतावाद का उपदेश दिया है वह भी तो एक विशुद्ध धर्म है और है अध्यात्मानुप्राणित। आध्यात्मिक दृष्टि से ही उसका विशुद्ध विश्लेषण हम कर सकते हैं। आधिभौतिक विज्ञानवाद संसार की मानवता को प्रलय की ओर ले जा

हमारे शिक्षक और विद्यार्थियों में अपनी संस्कृति के लिए उच्च भाव हो रहा है। उससे बचने का उपाय केवल अध्यात्मवाद ही है। जब प्रकृतिवाद मानव-मस्तिष्क पर अपना प्रभुत्व जमा लेता है तो संसार विनाश की ओर अग्रसर होता है। विनाश से बचने और शान्ति की स्थापना का मार्ग विज्ञान के साथ अध्यात्मतत्व का समन्वय करने में है। भारतीय संस्कृति में दोनों का समन्वय है। यह मानव का एक विशुद्ध धर्म है। इसका धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र में कोई विरोध नहीं। प्रत्येक व्यक्ति ऐसे विशुद्ध मानव-धर्म को अपना सकता है।



शिक्षा पर दर्शन का प्रभाव

शिक्षा की पृष्ठभूमि और इसके उद्देश्य समय समय पर दार्शनिक विचारधाराओं के परिवर्तन के साथ परिवर्तित होते रहे। मानव ने चिरन्तन सत्य की खोज में विचार के प्रवाह में ज्यों ज्यों पार्श्व बदला त्यों त्यों शिक्षा भी उसी पार्श्व की पार्श्ववर्तिनी होती रही। है भी यह तथ्यभूत बात कि किसी भी वाद की तब तक कोई सफलता अथवा प्रसूति नहीं हो सकती, जब तक उसकी पूर्वपीठिका की स्थण्डिल-शिला दर्शन के मूलतत्त्व पर आधारित न हो। बिना किसी दार्शनिक पृष्ठभूमि के संसार में कोई भी विचारधारा पनप नहीं सकती। शिक्षा के क्षेत्र और नियमों पर दर्शन ने अपना अमिटप्रभाव आदिकाल से ही रखा। भारत-वर्ष में शिक्षा धार्मिक-मानस्तर से समय समय पर दी जाती रही। वैदिक शिक्षापद्धति में धार्मिक विचारधाराएँ और दार्शनिक तत्व ओतप्रोत हैं। उस समय परिशीलन से ज्ञात होता है कि धर्म शब्द का अर्थ वहीं नहीं जिसका आज के धर्मनिरपेक्षवाद और सेकुलरिज्म से प्रत्याख्यान होता है। सत्-असत्, आत्म-अनात्म के परिज्ञान को धर्म अपने में धारण करता था। दर्शन का भी यही विषय रहा अतः दोनों धाराएँ साथ साथ शिक्षा में चलती रहीं। कोई भी धर्मभावना बिना फल और उद्देश्य के सफलीभूत नहीं हो सकती। अतः मुक्ति अर्थात् चिरशान्ति धर्म का फल तथा परमात्म-

शक्ति उसका उद्देश्य मानी जाती रही। किसी भी आत्मवादी दार्शनिक विचारधारा में इन्हीं दो का समावेश पाया जाता है। अध्यात्मानुप्राणित दर्शन के वस्तुतः केन्द्रबिन्दु भी ये ही दोनों तत्व हैं। वैदिककाल की शिक्षा भी इन्हीं उद्देश्यों को रखकर चलती रही। दर्शन इस बात का विचार करता है कि इस दृश्य का मूल-तत्वात्मक चिरन्तन सत्यकारण क्या है? मानव जो केवल प्रकृति का पुंज नहीं है, उसका इससे क्या सम्बन्ध है? प्रकृति के भिन्न भिन्न संघातों में किसी चेतनामयी शक्ति का हाथ है या नहीं यदि है तो किस प्रकार? दृश्यजगत् आ और उसमें होनेवाले हमारे दैनन्दिन कार्यकलापों का अन्तिम उद्देश्य भी कुछ है या नहीं? यदि है तो उसका स्पष्टीकरण मानव मस्तिष्क को देना ही चाहिए जिससे उसकी प्रत्येक क्रिया का समन्वय उद्देश्य के साथ समन्वित किया जा सके। यदि मानव-जीवन के उद्देश्यों के साथ शिक्षा के उद्देश्य समन्वय नहीं खाते तो फिर उसमें एक प्रकार का अधूरापन ही रहेगा। जगत् और मानव के सम्बन्ध तथा मूल-तत्व के विचार के विषय में वैदिक विचारधारा का दार्शनिक पार्श्व यह है कि जो पिण्ड एवं शरीर में है वही ब्रह्माण्ड में है। ब्रह्माण्ड का यह पिण्ड एक लघु रूप है। जो सूर्य चन्द्र आदि दिव्य शक्तियां ब्रह्माण्ड में कार्य कर रही हैं शरीरगत नेत्र अथवा मस्तिष्क और मन उन्हीं के प्रतिरूप हैं। साथ ही यह समस्त विश्व एवं सब कुछ जो जगती में विद्यमान है—‘ओ३म्’ रूपी एकाक्षर ब्रह्म का व्याख्यान है। वस्तुतः ‘ओमित्येतदक्षरम्। इदं सर्वं तस्योपव्याख्यानम्’—इस धारणा के अनुसार ‘ओ३म्’ विश्वात्मा ही एक अविनाशी अक्षर है—यह सब कुछ उसी का व्याख्यान है। भूत, भविष्यत्, वर्तमान में जो कुछ था, होगा और है वह इस सत्ता का ही परिचय दे रहा है। वैदिक दर्शन के अनुसार यह अक्षर अविनाशी शक्ति जहां जगत् का प्रथम मूल कारण है वहां ओ३म् अक्षर रूप में वही वाणी का भी उद्गम स्थान है। यह शक्ति अक्षर इसलिए कही जाती है क्योंकि

सिद्धांत-तरङ्गिणी

यह व्यापक, अविनाशी और वाणी का 'अक्ष' है। इसका महान् कार्य जहां तत्व के रूप में जगत् को उत्पन्न, स्थित और संहत करना है वहां शब्द राशि का केन्द्र होकर उसे व्यक्त भी करना है। वैदिकदर्शन समस्त जगत् का विश्लेषण करते हुए जगत् को तीन संस्थाओं में व्यक्त करता है। वे हैं—पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युलोक। इनको बतलाने के लिए ही 'भूः' 'भुवः' और 'स्वः' शब्दों का प्रयोग किया जाता है। आधिदैविक दृष्टि से इन संस्थाओं में—अग्नि, वायु और सूर्य की स्थिति मानी जाती है। इन्हीं तीन दिव्य शक्तियों में अन्य दिव्य शक्तियां अन्तर्भूत हैं। इनके समष्टिभूत जगत् को ब्रह्म से प्रागम्भ होकर इस अवस्था में आने तक—ब्रह्म, ईश, हिरण्यगर्भ और विराट् दशायेँ होती हैं। जिस प्रकार आत्मा की जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, और तुरीय ये चार अवस्थाएं हैं उसी प्रकार जगद्-व्यापी चेतना की भी जगत् के कारण रूप में वर्तने की ये चार स्थितियां होती हैं। इन स्थितियों का परिचायक अक्षर 'ओंकार' है। सारी वाणियां 'भूः भुवः स्वः' में सन्निहित हैं और ये तीनों उस 'ओ३म' अक्षर में सन्निहित हैं अतः यह ही वाणी का मूल कहा जाता है। शब्द-ब्रह्मकी दार्शनिक विचारधारा इसी केन्द्र-बिन्दु से निःसृत हुई हैं। मानवधर्मशास्त्र के प्रणेता मनु सत्य का विवेचन करते हुए इस चिरन्तन तत्व पर ही प्रकाश डालते हैं। मनु के अनुसार 'सत्य' की चोरी करने वाला अर्थात् झूठ बोलने वाला 'सर्वस्तेन' अर्थात् सब वस्तुओं का चोर है। वह इसकी सिद्धि में एक दार्शनिक चर्चा करता है कि—सारे पदार्थ वाणी में निहित हैं, वाणी भी वाणीरूपी मूल अर्थात् 'अक्षर' 'ओंकार' से निकलती है; अतः वाणी की चोरी करने वाले समस्त पदार्थों के चोर हैं। उपनिषद् साहित्य में 'सत्य' की भी व्याख्या विचित्र ही ढंग की मिलती है। सत्य वस्तुतः 'उस चिरन्तन-सत्यतत्व का नाम है अतः उसकी व्याख्या भी उसी रूप में की गयी है। उपनिषत्कार कहते हैं कि इस लोक में दो प्रकार की कामनायें

हैं—सत्यभूत और अनृत से आन्ध्रादित । उस आन्ध्रादन के कारण मानव अन्तः में विद्यमान सत्य को नहीं जान पाते । क्योंकि वे अनृत के ढकने को देखते हैं—आन्तरिक सत्य को नहीं । वह आन्तरिक सत्य आत्मरूप में मानव के हृदय में गुप्त है । इसीलिए उसको बतलाने वाला शब्द 'हृदय' है । जिसका आशय है "हृदि अयम्" अर्थात् हृदय में वह यह आत्मा है । इस आत्मा का ही नाम 'सत्य' भी है । इस 'सत्य' शब्द में 'स' 'ति' 'यम्'—ये तीन पद हैं । 'स' का तात्पर्य 'अमृत' है 'त्' क अर्थ 'मर्त्य' है और 'यम्' 'स' 'ति' दोनों का जोड़ने वाला है । इसके अनुसार सत्य का अर्थ हुआ मर्त्य, अमर्त्य का नियामक अथवा आत्म अनात्म का नियंत्रण करने वाला । विश्वात्मशक्ति जहां अनात्मजगत् की नियन्त्री है वहां व्यक्ति-चेतन की भी व्यवस्था करनेवाली है । इसीलिए वह 'सत्य' शब्द से व्यवहृत की जाती है । इस प्रकार वैदिक दर्शन के अनुसार पिण्ड ब्रह्माण्ड की एकता है और पिण्ड में विद्यमान चेतना शाश्वत है । विश्व में विद्यमान चेतना भी शाश्वत है । मानवपिण्ड के हृदयदेश में दोनों की स्थिति है । व्यक्तिगत चेतनायें भिन्न हैं और वे इस ब्रह्माण्ड-व्यापी चेतना का सायुज्य प्राप्त करना चाहती हैं । यह विश्वव्यापी चेतना ही जगत् की प्राणिर्गणिका है । यही ओंकार के रूप में सारी वाणियों का भी मूल है । इस मूल को प्राप्त करने के लिए ही मनुष्य के वाचिक, कायिक और मानसिक समस्त व्यापार होने चाहिए । दृश्य जगत् और जीवन के सत्य का भी चरमलक्ष्य यही है । इसको ही दृष्टि में रख कर मानव की सारी प्रवृत्तियों होनी चाहिए । इस दार्शनिक विचारधारा का शिक्षा पर प्रभाव रहा और वह सदा इसी उद्देश्य के पूर्त्यर्थ प्रबल साधन के रूप में चलती रही । मानव के प्रत्येक कर्म परमेश्वर के स्मरण के साथ प्रारम्भ होते रहे और पढ़ने के प्रारम्भ तथा अन्त में 'ओम्' का उच्चारण किया जाता रहा । शिक्षा में वेद, वेदांगों की पढ़ाई और अध्यात्म का प्रमुख स्थान रहा । सब

शिक्षण-तरङ्गिणी

कुछ अध्यात्मानुप्राणित ढंग पर होता रहा और शिक्षा की पूर्ति चिरन्तन शक्ति की खोज समझी जाती थी। जो शिक्षा इसे न पूरा कर सके उसका कोई स्थान नहीं था। लोक-परलोक का समन्वय भी इसी में छिपा था। सारा शिक्षा का कलेवर धर्मदर्शन के सिद्धान्तों से व्याप्त था।

दार्शनिक विचारधारा में भी समय समय पर चढ़ाव उतार होते रहे। अतः शिक्षा में भी उसके प्रभाव से परिवर्तन होता रहा। जगत् का सत्य-तत्त्व जब 'आत्मरूप' स्वीकार किया गया तब शिक्षा की पद्धति उस ढंग पर चली और जब वह अनात्मरूप में स्वीकार किया गया तो शिक्षा का ढांचा उस रूप का बन गया। आत्मप्रधान और अनात्मप्रधान दार्शनिक विचारधाराओं के युगों में शिक्षा उन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति का साधन रही। वैदिककाल की शिक्षा और बौद्धकाल की तथा आज की पाश्चात्य शिक्षा में एक महान् अन्तर दृष्टिगत होता है। यह अन्तर दार्शनिक विचारों के अन्तर के प्रभाव के कारण से ही है। वर्तमान प्रकृतिवाद जब आत्मवाद के स्थान पर आसीन हो गया तो इसके बहुमुखी रूप के सामने शिक्षा ने भी अनेक रूप धारण किये। पूर्व में ही नहीं पश्चिम में भी शिक्षा पर विविध दार्शनिक धाराओं का प्रभाव रहा। शिक्षा-संबंधी इतवृत्त इसका साक्षी है। आदर्शवाद (Idealism) का प्रवर्तक प्लेटो को माना जाता है। यह वाद जीवन का मुख्य सिद्धान्त स्वीकार किया जाता था। इसके आधारभूत तत्वों का शिक्षा पर प्रभाव पड़ा। इसका आधारभूत तत्व यह है कि प्राकृतिक जगत् की अपेक्षा आध्यात्मिक जगत् का महत्व अधिक है। संसार में मानव अपने को दो भागों में बांट सकता है—अस्मत् और तदतिरिक्त युग्मन् एवं बाह्य जगत्। 'मैं' का विवेचन करने पर 'आत्मा' और मन दो वस्तुएं मिलती हैं। यही सब कुछ हैं और भौतिक जगत् की कोई सत्ता नहीं। यह आत्मिक सत्ता भौतिक की अपेक्षा अधिकांश में वास्तविक है। इसका जानना ही मानव का उद्देश्य है। मन और आत्मा

के विश्लेषण से ज्ञान, इच्छा, और भावना-तीन बातें मिलती हैं। ये तीनों 'सत्यम्' 'शिवम्' 'सुन्दरम्' के लक्ष्यत्रयी तक पहुँचती हैं। यही शिक्षा का उद्देश्य है। आदर्शवाद का प्रथम लक्ष्य सत्यं (Truth) शिवम् (Goodness) और सुन्दरम् (Beauty) का परिज्ञान तथा दूसरा लक्ष्य इनका जीवन में ढालना है। इन बातों के होते हुए भी इस आदर्शवाद में महान् आदर्श क्या है? इसका समाधान इस प्रकार दिया जाता है कि "सत्यं, शिवम्, सुन्दरम्" को प्राप्त करके साथ साथ आध्यात्मिक मापदण्ड की वृद्धि करना। मुख्य उद्देश्य निरपेक्षता (Absoluteness) को प्राप्त करना है। सापेक्षसत्य (Relative Truth) सापेक्ष शिव (Relative Goodness) तथा सापेक्ष सुन्दर (Relative Beauty) से आगे बढ़ कर निरपेक्ष सत्य, निरपेक्ष शिव और निरपेक्ष सुन्दर (Absolute Truth, Absolute Goodness and Absolute Beauty) को प्राप्त करना चाहिए। मानवजीवन का चरम लक्ष्य एवं आदर्श यही है। मानवसमाज ने जिस आध्यात्मिक स्तर पर अपने को पहुँचा दिया है उसका भावी सन्तति के लिए सुरक्षित रखना उसी का अपना कर्तव्य है। यदि ऐसा न किया जावे तो हर एक सन्तति को फिर नये सिरे से प्रत्येक बात का परिचय प्राप्त करना पड़ेगा। मानव परिवार के प्रत्येक व्यक्ति के लिए यह आवश्यक और अनिवार्य है कि वह अपनी सन्तति को भी अपने द्वारा प्राप्त आदर्शवाद के इस मापदण्ड पर पहुँचावे, जिससे वह अपनी भावी सन्तान को उससे भी आगे पहुँचा सके। आदर्शवाद के ये ही तत्व हैं। प्लेटो की इस दार्शनिक विचारधारा का शिक्षा पर प्रभाव यह हुआ कि 'सत्यम्, शिवम् और सुन्दरम्' का ज्ञान क्रमशः दर्शन, (Philosophy) कर्तव्यमीमांसा-विज्ञान (Ethics) और कलाओं (Arts) से दिया जाने लगा। चूँकि बालक ज्ञान के निक्षेप को सुरक्षित रखने तथा आगे विस्तारित करने के लिए उत्पन्न हुआ है और जाति का सम्पूर्ण ज्ञान भाषाओं में है-इसलिए उनका पढ़ाना आवश्यक

हो गया। वैदिक-दर्शन के अनुसार बालक ब्रह्माण्ड की समता के पिण्डभूत शरीर का द्रष्टा भोक्ता और अधिष्ठाता है और उसके द्वारा वह महान् विश्वात्मा को प्राप्त करना चाहता है, यह सिद्धान्त जहां माना गया था वहां प्लेटो ने अपनी विचारधारा में अपने ढंग से तथ्यों का प्रतिपादन किया। 'मनुष्य सभी वस्तुओं की माप है' इस विचारका व्युत्पत्ति कर प्लेटो ने भी आत्मा के शाश्वत अस्तित्व को स्वीकार किया और शिक्षा में भी उसका समावेश बना रहा।

इसके बाद प्रकृतिवाद ने अपना स्थान ग्रहण किया। इसके लिए नेचुरलिज्म शब्द का प्रयोग किया जाता है और यह वाद अपनी दार्शनिक भित्तियों के लिए आदर्शवाद से विरुद्ध है। इसका जन्म तब हुआ जब आदर्शवाद ने शिक्षा में भाषाज्ञान को परम प्राप्य स्थान दे रखा था। यह आदर्शवाद की प्रतिक्रिया के रूप में था और आदर्शवाद केवल विचारात्मक वाद था अतः इस वाद को उसके विरुद्ध (Realism) यथार्थवाद नाम दिया गया। इस विचार की तीन सरणियां यूरपीय देशों में प्रचलित हैं। Humanistic Realism, Social Realism और Sense Realism परन्तु प्रकृतिवाद का शुद्ध रूप इन तीनों में केवल Sense Realism, अर्थात् इन्द्रिय यथार्थवाद ही है। इसने केवल भाषाओं के पढ़ने में ही जीवन के नष्ट करने को रोका और बनलाया कि बालकों को केवल पुस्तकें पढ़ लेना शिक्षा का कार्य नहीं अपितु प्रकृति के अनुसार उन्हें चलाना चाहिए और उन्हें अपने आप विकसित होने देना चाहिए। बालक बालक ही है पूर्ण मनुष्य नहीं अतः उसे पोथियों के भार से लदा हुआ नहीं बनाना चाहिए। इसी वाद का समर्थन रूसों ने भी किया। उसने बालक की संज्ञा 'एमिली' रखी थी। तथा उसके जीवन के शैशव, वचपन, वाल्यकाल, कैशोर्य और परिपक्वता-ये विभाग किये। रूसो की इस धारा ने ही बालक की प्राकृतिक शक्तियों (Instincts), स्थायी भावों

(Sentiments) और बुद्धि (Intelligence) के अध्ययन का मार्ग खोला । बालक को एक स्वतन्त्र व्यक्ति माना जाने लगा और शिक्षा में व्यक्तिवाद ने स्थान ग्रहण किया । शिक्षा-मनो-विज्ञान का अध्ययन भी लगभग इसी समय योरुप में प्रारम्भ हुआ । शिक्षा में विज्ञान पर बल देने की बात भी प्राकृतिवाद की देन कही जाती है । यह इसलिए कि बालक पुस्तकों में ही न पड़ा रह कर प्रकृति की भिन्न भिन्न परिस्थितियों से स्वयं ज्ञान प्राप्त करे । बालक करने के द्वारा सीखे अर्थात् उसकी Learning by doing हो-यह प्रोत्साहन दिया गया । इस दार्शनिक धारा से प्रभावित शिक्षा में बाल ही मुख्य समझा जाने लगा और डाल्टनप्लैन, प्रोजेक्ट पद्धति, मौण्टेसरी प्रणाली आदि का निर्माण किया गया । प्रकृतिवाद ने मनोविश्लेषण (Psycho-analysis) के द्वारा बालक के दोषों तथा अपराधों की दिशा में भी प्रगति पैदा की ।

इसके अनन्तर प्रयोगवाद (Pragmatism) का विस्तार हुआ । अमेरिका में जान ड्यूई ने इस प्रयोगवाद की स्थापना की । प्रयोगवाद में जैसा कि नाम से ही सिद्ध है, प्रयोग की ही प्रधानता है, आदर्श की नहीं । उस आदर्श को इसमें कोई स्थान नहीं जो वस्तुतः प्रयोग में न आ सके । प्रयोगवाद के अनुसार किसी सिद्धान्त की परख उसकी क्रियासिद्धि और अनुभव (Experience) में जँचने के आधार पर अवलम्बित है । ऐसे किसी भी सिद्धान्त को इस वाद के अनुसार नहीं माना जा सकता जो प्रयोग पर न जँचता हो । व्यक्ति पर स्वतन्त्ररूप से विचार करने की इसमें आवश्यकता नहीं । क्योंकि वह सदा अपने जीवन के कार्यकलापों को समाज में ही विस्तारित करता है । इसलिए किसी विषय को उसकी सामाजिक योग्यता (Social Efficiency) के आधार पर देखना आवश्यक है । मानव का सम्पूर्ण जीवन समाज के साथ ग्रथित है । इसमें पृथक्ता नहीं अपितु एकता है । एक डाक्टर को दूकानदार से, दूकानदार

क़ो वकील से, वकील को अध्यापक से, अध्यापक को बढई से और इन सब को एक दूसरे से काम पड़ता है। सामाजिक सौकर्य तभी हो सकता है जब समाज एक समुदाय के रूप में वर्ते। परस्पर सम्बन्ध को पहचान कर सब का सब के साथ सहयोग होना चाहिए। प्रयोगवाद की इस दार्शनिक प्रक्रिया का प्रभाव शिक्षा पर यह पड़ा कि इसमें व्यक्ति की अपेक्षा समाज पर बल दिया जाने लगा। व्यक्ति स्वतन्त्र नहीं समाज का अंग है अतः शिक्षणीय बालक एक स्वतन्त्रव्यक्ति नहीं अपितु समाजबद्धव्यक्ति है। जब वह समाज से सम्बद्ध प्राणी है और समाज के लिए ही तैयारी कर रहा होता है तो उसकी पाठशाला भी समाज का एक रूप ही होनी चाहिए। पाठशाला का कार्य बालक को सामाजिक जीवन के लिए तैयार करना है। बालकों के समक्ष कोई निश्चित लक्ष्य होना चाहिए कि वे क्रियाशीलता को चरमसीमा तक ले जा सकें। इसी प्रकार बालक की शिक्षा में भी कोई लक्ष्य (Object), कोई प्रयोजन (Purpose); कोई योजना (Project) और कोई समस्या (Problem) रखे जाने चाहिए। इससे ऐसा होता है कि किसी प्रयोजन और योजना को लेकर चलते हुए बालक अनुभव से कार्य लेकर बहुत कुछ सीख जाता है। जिस प्रकार समाज में प्रत्येक मनुष्य एक दूसरे के सहारे पर टिका हुआ है उसी प्रकार पढ़ाई में प्रत्येक विषय परस्पर जोड़कर पढ़ाये जाने चाहिए। इसी विचारसरणि ने किलपैट्रिक के द्वारा शिक्षा में Project Method को जन्म दिया। आज यह चलने वाली शिक्षा पद्धति इतने उतार-चढ़ाव के बाद इस रूप में आयी है। इसके इन उतार-चढ़ावों का कारण अन्य कुछ नहीं वस्तुतः दार्शनिक विचारों का उतार-चढ़ाव रहा है। दर्शन की जिस समय जैसी स्थिति रही शिक्षा पर भी उसी प्रकार का प्रभाव रहा है। कभी व्यक्ति-समाज का समन्वय, कभी केवल व्यक्तिवाद और आजकल समष्टिवाद का दृष्टिकोण शिक्षा में है। इसमें प्रथम वैदिक दर्शन, दूसरा वेदान्त और

तीसरा अन्ताराष्ट्रिय धारणा पर आधारित है । आज की शिक्षा में अध्यात्म को स्थान नहीं रह गया है । केवल प्रकृतिवाद का ही बोलबाला है । अतः इसमें अध्यात्म का पुट देने की आवश्यकता है । ऐसा करने से अर्धसत्य पूर्णसत्य का स्थान नहीं ले सकेगा और शिक्षा का उद्देश्य आत्मोन्मुख होगा प्रकृत्युन्मुख नहीं ।



शिक्षा के क्षेत्र में अनुशासन का प्रकार

शिक्षा का एक बहुत ही आवश्यक अंग अनुशासन है। इसके बिना शिक्षा का सूत्र अक्षुण्ण रूप से नहीं चल पाता। येन-केन प्रकारेण

कोई विद्या की सूचक उपाधियों को भले ही प्राप्त कर ले परन्तु वह बात उस व्यक्ति के जीवन में नहीं आ सकती जो शिक्षा के साथ, दीक्षा, व्रत, नियम एवं अनुशासन में मंजे व्यक्ति में आ जाती है। वस्तुतः हमारे जीवन में भी एक अनुशासन है जिसके कारण जीवन-साफल्य का नियम सुचारु-तया चल रहा है। यदि यह अनुशासन टूट जाय तो हमें किसी प्रकार भी साफल्य का दर्शन नहीं हो सकता। यही दशा शिक्षा-क्षेत्र की भी है। मानव स्वभावतः चैतन्यमय और कर्मशील प्राणी है। उसके इस चैतन्य में मूलतः इच्छा, प्रयत्न और ज्ञान का सन्निवेश है। परन्तु इच्छा और प्रयत्न के स्वभाव में उदामता को न आने देने के लिए ज्ञान का निरोधाकुश भी लगा है। जीवन में होनेवाला—उत्थान, समन्वय, आत्मरक्षा और आत्मसात्करण का व्यापार उस चैतन्य को पूर्णतया प्रतिदिन व्यक्त कर रहा है। जीवन-विज्ञान के अनुसार जिसे हम जीवन कहते हैं वह इन चारों का सामंजस्य है। जहाँ यह सामंजस्य नहीं वहाँ पर वस्तुतः निर्जीवता और निश्चैतन्य का ही साम्राज्य है। चेतना-मय मानव-प्राणी को यद्यपि उन सभी कर्मों के करने में पूर्ण स्वातंत्र्य प्राप्त है जिनमें प्रकृति कोई रोधात्मक बाधा उपस्थित नहीं करती—परन्तु फिर भी उसकी एक मर्यादा

है। यदि संसार का प्रत्येक मानव इस स्वतंत्रता पर अनुचित बल दे तो सन्देह नहीं कि सबकी स्वतंत्रता क्षणमात्र में ही परतंत्रता में परिणत हो जाय। केवल प्रवृत्ति की उदामता में सुख नहीं—सुख प्रवृत्ति के मर्यादित रखने में है। मानव शब्द के साथ यह अभिव्यंजना सदा लगी हुई है। प्रत्येक मानव की स्वतंत्रता के निभाने में यह मर्यादा एवं नियंत्रण परमावश्यक है। व्यक्ति किसी कर्म को ठीक रूप में भी कर सकता है और उससे उल्टे रूप में भी। परन्तु इसके औचित्यानौचित्य का पता परिणाम और दूसरे के इसी प्रकार के कर्मों और स्वार्थों के संपर्क होने पर चलता है। जहाँ उचित रूप में किया हुआ कर्म प्रशस्त, उचित, और शिष्ट कर्म है वहाँ उल्टेपन से किया कर्म बुराई, अकर्तव्य और अशिष्ट कर्म है। इसकी रूकावट ज्ञान, और भय आदि के द्वारा हो सकती है। बालक शिक्षा-काल में अपनी शिक्षा को निर्बाध समाप्त कर सफलता प्राप्त करे और शिष्ट बने—एतदर्थ ही इन तीनों का समन्वय कर नियंत्रणोपाय बतौ जाना चाहिए। यही वस्तुतः अनुशासन है।

अनुशासन के प्रकार का जहाँ तक समाज से सम्बन्ध है—वह राज्य के बल से संचालित होता है। कोई भी व्यक्ति इसलिए किसी नियम का उल्लंघन नहीं कर सकता क्योंकि राज्य का दण्डबल उसके पीछे कार्य कर रहा है। यह बल जहाँ मनुष्य के अधिकार की रक्षा करता है वहाँ अधिकारों के अपहरण अथवा हस्तक्षेप से उत्पन्न अपराधों को रोकता भी है। राज्य में प्रत्येक व्यक्ति अपने अधिकार का प्रयोग कर सकता है परन्तु वह उसका ऐसा प्रयोग नहीं कर सकता कि उससे दूसरे के अधिकार में किसी प्रकार की बाधा पड़ती हो। राष्ट्र का प्रत्येक नागरिक स्वतंत्रता, संरक्षण और मानरक्षा का अधिकार रखता है। प्रत्येक के इस अधिकार में कोई बाधा न पड़े—इसलिए ही राज्य नियम द्वारा सबके अधिकार-क्षेत्र का निर्धारण करता है। इन नियमों को ही विधान के नाम से पुकारा

शिक्षण-तरङ्गिणी

जाता है। इन विधानों का उल्लंघन अपराध है और दण्डनीय है क्योंकि ये राज्यबल की आज्ञायें हैं। यदि इनका पालन क्षण भर के लिए भी छोड़ दिया जावे तो समाज में अव्यवस्था उत्पन्न हो जावे और अशान्ति का वातावरण बन जावे। इसलिए राज्य अनुशासन को ठीक रखने के लिए दण्ड की व्यवस्था प्रचलित करता है। कोई भी अपराधी अनुशासन को तोड़नेवाला समझा जाता है और दण्ड का भागी बनता है। राज्य के द्वारा चलाये गये दण्डों (Punishments) को चार प्रकारों में बाँटा जा सकता है—रोधात्मक (Deterrant) दमनात्मक (Preventive) सुधारात्मक (Reformative), तथा प्रतिशोधात्मक (Retributive)। इनमें से प्रथम सर्वश्रेष्ठ है क्योंकि इससे अपराध करनेवाले को दण्ड और अपराध के दुष्परिणामों का भय दिखलाकर अपराध करने से रोक दिया जाता है। परन्तु यह सर्वत्र कारगर नहीं हो पाता। अतः दूसरा दमनात्मक वर्ता जाता है। दमनात्मक दण्ड में कारावास से लेकर कठोर से कठोर दण्ड सम्मिलित है। बालक अपराधियों को सुधारने के लिए सुधारात्मक उपायों से उन्हें सुधारा जाता है। दमनात्मक दण्ड अपराधी को उस अपराध के पुनः करने के अयोग्य बनाता है और सुधारात्मक अपराधी को सुधारता है; उसका उद्देश्य है कि पाप से घृणा करना चाहिए पापी से नहीं। चतुर्थ प्रतिशोधात्मक दण्ड बहुत भयंकर है। यह अब धरा पर कहीं भी नहीं वर्ता जाता है। इसमें अपराधी को ऐसी सज़ा दी जाती है कि जिससे अपराध का बदला निकाला जा सके। इसमें आँख के बदले आँख, दाँत के बदले दाँत निकाल लेने का प्रकार है। इसका विशुद्ध प्रकार यह है कि अपराध उसकी नियत सज़ा को भोगने से ही दूर होता है। दण्ड का भोगना उस विधान के ऋण को चुकाना है जो उल्लंघित किया गया है। इस दृष्टि से अपराध + दण्ड निरपराधता के बराबर माना जाता है। प्राचीन समय में प्रायः सभी जातियों और राष्ट्रों में इस प्रकार के दण्डों

के प्रचलन थे परन्तु अब इसको अच्छा नहीं समझा जाता। वर्तमान समय में तो मृत्यु दण्ड से भी लोगों को घृणा उत्पन्न होने लगी है।

शिक्षा का क्षेत्र ऐसे दण्डों का क्षेत्र नहीं। वह इससे भिन्न है। समाज के अनुशासन के लिए पूर्वोक्त विधियाँ कितनी ही उपयोगी हों परन्तु शिक्षासूत्र में वे गर्हणीय हैं। राष्ट्र में उनका प्रयोग राज्यबल (Physical force of the State) के द्वारा होता है जब कि शिक्षा-क्षेत्र में ऐसे बल की आवश्यकता ही नहीं। इसका अनुशासन सद्भावनाओं और सुधारात्मक निर्माणोद्देश्यों पर निर्भर है। राष्ट्र के अनुशासन को रखने के हेतु दण्ड की जिन विधियों का प्रयोग होता है, वे अपराधी को अपराधी समझकर की जाती हैं। परन्तु शिक्षा के क्षेत्र में बालक को राष्ट्र का भावी कर्णधार, वैज्ञानिक, अनुसंधानक, लेखक, और कवि समझकर उसे अनुशासित करने का नियम बर्ता जाता है। वास्तव में छोटे बालकों पर ही राष्ट्र का भविष्य निर्भर है। उन्हें जितनी सीमा तक संभव हो सके समुन्नत होने का अवसर दिया जाना चाहिए। शिक्षा का यही कार्य भी है। बालक में जहाँ अनेक उत्तम प्रवृत्तियाँ होती हैं, वहाँ उसकी स्वतंत्रता कभी कभी उच्छृङ्खलता के रूप में भी उसे प्रवृत्त कर देती है। इसी को रोकने के लिए अध्यापकों को अनुशासन की विधियों को बर्तना पड़ता है। ये विधियाँ बालकों की मनोवृत्तियों को अध्ययन कर उसके अनुरूप ही बर्तनी पड़ती हैं। प्राचीन काल में तो यह माना जाता था कि बालक के लालन में दोष है और ताड़न में गुण है। महान् वैयाकरण पतंजलि ने इसी विधि को बतलाया है। परन्तु आधुनिक समय में किसी विशेष परिस्थिति में उसकी जो भी उपयोगिता हो, मनोविज्ञान उसे अप्रयोज्य और अनुचित समझता है। शिक्षणालयों में शारीरिक दण्ड की विधि को अब रोक दिया गया है। अब अध्यापक को बालक के मनोभाव को समझकर शिक्षा देना चाहिए, डण्डे के बल पर बालक को नहीं पढ़ाया जा

सकता। शिक्षा के प्रांगण में भी अनुशासन को चलाने के लिए दण्ड की तीन विधियाँ मानी जाती हैं परन्तु अन्तिम दो का प्रयोग ही प्रशस्त माना जाता है। ये विधियाँ हैं—दमनात्मक, प्रभावोत्पादक और मुक्त्यात्मक। इनमें दमनात्मक विधि में बालकों को उच्छङ्खलता करने पर पीटा जाता था। परन्तु आजकल इसे विद्यार्थी के विकास के मार्ग में बाधा समझकर इसका प्रयोग वर्जित है। शिक्षा-वैज्ञानिकों का विचार है कि कठोर दण्ड का वातावरण विद्यार्थियों में स्वतंत्र सोचने की शक्ति का हास कर देता है। इससे छिपे-छिपे बालक में कपटाचार की प्रवृत्ति बढ़ जाती है। प्रभावोत्पादक अनुशासन में बालक श्रद्धा के वशीभूत होकर कार्य करता है। शिक्षक की बातों को वह बड़े मनोयोग के साथ स्मरण करता है परन्तु इसमें शिक्षक को हर बात में आदर्श बनकर दिखलाना पड़ेगा, जिससे बालक में उसके प्रति श्रद्धा अटूट रहे। जो अध्यापक जितना ही विद्यार्थियों की श्रद्धा का पात्र होता है, वह उतना ही कुशल अनुशासक होता है। बालक जब तक शिक्षक के प्रति विस्मय का भाव रखते हैं तब तक उनकी श्रद्धा उसमें रहती है परन्तु वाद-विवाद अथवा व्यवहार में जब शिक्षक उन्हें सन्तोषप्रद उत्तर नहीं दे पाता तब उस पर से श्रद्धा हट जाती है। यह अनुशासन का उपाय यद्यपि उपादेय है परन्तु अध्यापक को इस में हर एक विषय में अपने को एक आदर्श रूप में रखना पड़ता है। तीसरा मुक्त्यात्मक अनुशासन आजकल बहुत ही उत्तम माना जाता है क्योंकि इसमें बालक को उसके द्वारा किये गये अपराधों को समझाकर छोड़ दिया जाता है अथवा उसको बिलकुल छोड़ दिया जाता है और वह स्वयं अपने अपराध को समझ कर छोड़ देता है। ऐसे उदाहरण महात्माओं के पाये जाते हैं कि उन्होंने कितने डाकुओं और अपराधियों के हृदय को अपने प्रभाव से बदल दिया परन्तु यह प्रत्येक अध्यापक के लिए संभव नहीं।

दमनात्मक अनुशासन यद्यपि अच्छा नहीं परन्तु कई परिस्थितियों में उसके अतिरिक्त कोई चारा ही अध्यापक के समक्ष नहीं रह जाता। जब विद्यार्थी की उच्छृङ्खलता अपने तक ही सीमित रहती है तो दोनों अनुशासनों में से किसी एक का भी तदनुरूप आश्रय लिया जा सकता है, परन्तु जब वह बहुतों को प्रभावित कर लेती है तब विवशतः दमनात्मक विधि का अवलम्बन करना ही पड़ता है। अधिकांश लोगों का विचार है कि दण्ड (Punishment) को स्कूली शिक्षा से पूर्णतया निकाल दिया जाय। परन्तु ऐसा करने में शिक्षा का भारी अनर्थ भी देखा जाता है। यदि यह सर्वथा हटा दिया जाय तो स्कूल में अराजकता फैल जाने की संभावना पग-पग पर रहेगी। वस्तुतः दण्ड का उद्देश्य यदि देखा जाय तो वह चार प्रकार का है। १—वह अपराधी के लिए अपने अपराध का बदला है। २—भविष्य में वह अपराध करने से रोकता है। ३—वह दूसरों को ऐसे अपराधों के करने से रोकता है। ४—अपराधी का सुधार करता है। पाठशालाओं का दण्ड अपराधी के सुधारार्थ ही है। अतः अध्यापक को अधिक से अधिक परिस्थितियों में दमनात्मक अनुशासन का प्रयोग नहीं करना चाहिए। अन्य प्रकार से कार्य को चलाना चाहिए। परन्तु जब अन्य प्रकारों से कार्य न चले और मार्गान्तर भी न मिले तो अत्यन्त विशेष परिस्थिति में ऐसे दण्ड का उपयोग भी किया जा सकता है। कभी कभी विद्यार्थी ऐसी उच्छृङ्खलता कर बैठते हैं जिसमें उन्हें च्युत करने या दण्ड देने के अतिरिक्त कोई रास्ता ही नहीं रह जाता। फिर भी अध्यापक को बहुत विचार से इस असाधारण परिस्थिति का सामना करना चाहिए। अध्यापक का कार्य जहाँ पढ़ाना-लिखाना है वहाँ अनुशासन को बनाये रखना भी। किसी भी हालत में उसे अनुशासन भंग नहीं होने देना चाहिए। जो अध्यापक अनुशासन को कायम नहीं रख सकता वह अध्यापन में सफलता नहीं प्राप्त कर सकता। बालक को अनुशासनभंग करने

पर स्कूल से एवं परीक्षा से च्युत करने के दण्ड को भी कुछ लोग अवा-
 छनीय समझते हैं। परन्तु जहाँ विद्यार्थी अध्यापक को ही ताड़ना देने पर
 उत्तरु हो जाते हैं वहाँ पर और चारा ही क्या रह जाता है। यह ठीक है
 कि इस दण्ड से बालक के भविष्य-जीवन के बिगड़ने का भय रहता है
 परन्तु प्रश्न यह भी तो खड़ा होता है कि क्या इस भय से अनेकों के जीवन
 को अनुशासन के प्रभाव से प्रभावित होने दिया जाय। वर्तमान समय में
 राजनीति चंचला के रूप में विद्यमान है। बड़े बड़े परिवर्तनों का प्रभाव
 विद्यार्थियों पर अतिशीघ्र पड़ जाता है। राजनीति की अनेकों पार्टियां
 विद्यार्थीवर्ग में ही अपना प्रचार कर कृतार्थ होती हैं। विद्यार्थी-जीवन
 विशुद्ध कर्तव्य और योग्यता के संपादन का जीवन है। इसमें भी जब अधि-
 कार और पार्टी एवं सत्ता का बीज आरोपित हो जाता है तब अनुशासन
 पर भी प्रभाव पड़ता ही है। आज अध्यापकों को मार देने, प्रभपत्र को
 प्रकट करने, परीक्षा-हाल में निरीक्षक को मारने-पीटने, हड़ताल करके
 अधिकार की माँग करने और विद्यालय के सामान को नष्ट-भ्रष्ट करने
 आदि के रूप में अनुशासनभंग देखे जा रहे हैं। इनकी सीमा इन अव-
 स्थाओं में शिक्षा के विभाग से सम्बद्ध न रहकर वैधानिक अपराध के रूप
 में आ जाती है। कभी कभी दो भिन्न भिन्न राजनीतिक विचार को
 लेकर विद्यार्थी भगड़ते हैं और परिणाम संस्था तथा अध्यापक को भोगना
 पड़ता है। ऐसे भी विद्यार्थी कभी कभी विद्यालयों में प्रविष्ट हो जाते हैं
 जिनका अनुशासन भंग करना ही स्वाभाविक कार्य हो जाता है। ऐसी परिस्थि-
 तियों में स्कूल से उन्हें पृथक् करना या परीक्षा से निकाल देना ही शिक्षा
 के प्रांगण में एक दण्ड रह जाता है। हाँ, इतना अवश्य है कि ऐसे दण्डों
 का प्रयोग अनिवार्य और विकल्पान्तराभाव की स्थिति में ही करना
 चाहिए। छोटी छोटी पाठशालाओं में कभी कभी अध्यापक जो पीट-पाट
 मचाते हैं और केवल डण्डे के सहारे पर ही बालक पर काबू पाने का

शिक्षा के क्षेत्र में भुशासन का प्रकार

प्रयत्न करते हैं—वह भी नहीं होना चाहिए । उससे विद्यार्थी सदा दबी बिल्ली ही बन जाते हैं । चरित्र-सम्बन्धी अपराध में कठोर दण्ड निष्कासन आदि बर्ते जाने आवश्यक हैं । यद्यपि मनोविज्ञान के अनुसार कठोर दण्डों को अब स्थान नहीं परन्तु यह समझकर कि ये भी साधन ही हैं साध्य नहीं अतः परिस्थितियों में तदनुरूप उपाय वर्तना अवांछनीय नहीं ।



उपनिषदों में शिक्षा का रहस्य

उपनिषदें रहस्य के शास्त्र हैं। उनमें थोड़े से स्थलों को छोड़कर शिक्षा के विषय में ऐसा ऊहापोह नहीं किया गया है कि जिनको शिक्षा के विस्तार के छोटे-मोटे नियमों को दशाने वाला कहा जावे। उपनिषदें वस्तुतः भारतीय वाङ्मय में अपने महत्त्व की दृष्टि से उच्च स्थान रखती हैं। उनके रहस्यमय होने में ही उनका गौरव है। परन्तु शिक्षा के विस्तार के वर्णन को न दिखलाती हुई भी वे जिन बातों को दिखलाती हैं वे वस्तुतः अन्य रहस्यों की भांति शिक्षा के रहस्य अवश्य कही जा सकती हैं। जिन थोड़े स्थलों में शिक्षा का वर्णन है, वे शिक्षा के दर्शन और गूढ़ रहस्य के ऊपर अच्छा प्रकाश डालते हैं। शिक्षा विषय का वर्णन तैत्तिरीयोपनिषद् प्रथम वल्ली के दूसरे अनुवाक में चलाया गया है। इस में—शिक्षा का व्याख्यान करेंगे—ऐसी प्रतिज्ञा करके सूत्ररूप से वर्ण, स्वर, मात्रा, बल, साम और सन्तान का वर्णन किया गया है। ये भाषा सम्बन्धी शिक्षा के लिये आवश्यक सूत्र हैं। भाषा का परिज्ञान बिना इनके पूर्णतया नहीं हो सकता। वर्ण से स्वर और व्यंजन वर्णों का अभिप्राय है। स्वर उच्चारण के प्रकार हैं और ये उदात्त, अनुदात्त और स्वरित रूप से तीन प्रकार के होते हैं बल से अर्थ उच्चारण के बल से है। इसी को व्याकरण शास्त्र में प्रयत्न नाम दिया गया है। प्रयत्न भी दो प्रकार के होते हैं बाह्य और आभ्यन्तर।

विवार, संवार, नाद, घोष, अघोष, अल्पप्राण, उदात्त, अनुदात्त, स्वरित और श्वास—ये ग्यारह प्रयत्न बाह्य प्रयत्न हैं। आभ्यन्तर प्रयत्न—स्पृष्ट, ईषत्स्पृष्ट, ईषद्विवृत, विवृत और संवृत भेद से पांच प्रकार के हैं। शब्दों के उच्चारण में मधुरता और समता होनी चाहिए इस लिए 'साम' का ज्ञान आवश्यक है। सन्तान संधि और अक्षरों के मेल को कहते हैं। भाषा के इस प्रकार पूर्ण परिज्ञान के बाद तैत्तिरीय उपनिषत्कार संहिता के उपनिषद् की शिक्षा प्रारंभ करते हैं। इसी को उपनिषद् में "महासंहिता" भी कहा जाता है। संहिता का अर्थ मिली या संयुक्त वस्तु है। उपनिषद् के अर्थ समीप बैठना है। गुरु के समीप बैठकर विद्याज्ञों के जिन अवयवों का परिज्ञान प्राप्त किया जाता था, उनकी शिक्षा देने के रहस्य को ही संहिता का उपनिषद् कहा गया है। उपनिषद् के शाब्दिक अर्थ—समीप बैठना और अध्यात्मज्ञान दोनों ही हैं। परन्तु कोई भी उपनिषत्सम्बन्धी विद्या बिना गुरु के पास बैठे नहीं पढ़ी जा सकती है, अतः उपनिषद् शब्द से वह सारा ज्ञान ग्रहण किया जाता है जो गुरु की सेवा में बैठकर ग्रहण किया जावे। संहिता के उपनिषद् के आचार्यों ने पांच विभाग किये हैं—लोक, ज्योतिष, विद्या, प्रजा और अध्यात्म। इन पांच विभागों का ज्ञान प्राप्त कर लेने पर ज्ञान के सर्वाङ्गीण क्षेत्र में शिक्षार्थी पहुँच जाता है। ये विभाग बहुत ही सूक्ष्मतापूर्वक विचार करके रखे गये हैं और अत्यन्त ही उपयोगी हैं। इन विभागों के द्वारा रहस्य को समझते हुए उपनिषद् का ऋषि प्रथम लोक को लेता है। लोक ज्ञान के लिए उसके अनुसार पृथ्वी पूर्वरूप और द्यौ उत्तररूप, आकाश सन्धि और वायु सन्धान है। इसी प्रकार पांचों विभागों में प्रत्येक विभाग के परिज्ञान के लिए उसके पूर्वरूप, उत्तररूप, सन्धि और सन्धान का वर्णन है। पृथ्वी से वह लोक अभिप्रेत हैं, जो प्रकाशवाले नहीं और द्यौ से प्रकाशमय लोकों का ग्रहण है। इन दोनों प्रकार के लोकों अथात् नक्षत्रों के परिज्ञान से समस्त जगत् का

समष्टिरूप से ज्ञान होजाता है। इन दोनों प्रकार के नक्षत्रों के मध्य में आकाश (Space) है और वह इन दोनों के मेल का कारण है अतः उसे सन्धि कहा गया है। इन नक्षत्रों का परिज्ञान प्रकाश से होता है और प्रकाश का मार्ग वायु है, इसी लिए उसे मेल कराने वाला कहा गया है। इसके अनन्तर दूसरा विभाग ज्योतिष का आता है। समष्टि रूप से जगत् का ज्ञान प्राप्त करने के बाद शिष्यार्थी को असंख्य सौर मण्डलों में से अपने सूर्यमण्डल की ओर चलना पड़ता है। इस मण्डल से सम्बद्ध विभाग को ही उपनिषद् के इस शिक्षा के अध्याय में ज्योतिष कहा गया है। पंचभूतों में प्रकाश देने वाले भूत का नाम अग्नि है। वह ही इस ज्योतिष विभाग का पूर्वरूप है। उसी अग्नि से सूर्य प्रकाशित है इस लिये वह उत्तररूप माना गया है। किसी भी पिण्डभूत वस्तु का मेल जल से हुआ करता है इसलिए जल सन्धिरूप से व्यवहृत है। अव्यक्त विद्युत् जल के व्यक्त होने का कारण होती है, अतः इस विभाग का वह सन्धान है। विद्या-अध्ययन में संहिता के तीसरे विभाग का तात्पर्य है। इसमें आचार्य पूर्वरूप; शिष्य उत्तररूप; विद्या सन्धि और प्रवचन सन्धान है। विद्या की प्राप्ति में आचार्य और विद्यार्थी क्रमशः पूर्व और उत्तर रूप हैं ही। यह स्पष्ट बात है। विद्या उन दोनों के मेल का कारण और प्रवचन संधान है—यह भी ठीक ही है। ये तीनों विभाग ज्ञान-सम्बन्धी हैं। इन को जान लेने के अनन्तर विद्यार्थी को व्यावहारिक आचार विचार को जानना चाहिए। प्रजा यह चौथा विभाग है। इसमें माता पूर्वरूप, पिता उत्तररूप और सन्तान दोनों के मेल का कारण सन्धिभूत है। प्रजननक्रिया सन्धान है। इसके बाद अन्तिम पांचवां विभाग अध्यात्मतत्त्व सम्बन्धी है। अपने का ज्ञान मनुष्य के लिये मुख्य है। अपने सम्बन्धी एवं अध्यात्म-विद्या का केन्द्र शिर है। शिर के दो भाग करके उपनिषत्कार ने पहले को अधरा हनु और दूसरे को उत्तरा हनु कहा है। ये वस्तुतः दोनों

Cerebrum और Cerebellum के नाम मालूम पड़ते हैं। समस्त बाह्य ज्ञान वाणी द्वारा प्रकट और प्राप्त हुआ करता है इस लिए वाक् सन्धि है और वाक् का व्यापार जिह्वा से होता है अतः वह सन्धान है। क्रमशः उक्त संहिता के उपनिषत् की सारणी इस प्रकार है।—

विभाग	 पूर्वरूप	 उत्तररूप	 सन्धि	 संधान
लोक	 पृथ्वी	 द्यौ	 आकाश	 वायु
ज्योतिष	 अग्नि	 सूर्य	 जल	 विद्युत्
विद्या	 आचार्य	 शिष्य	 विद्या	 प्रवचन
प्रजा	 माता	 पिता	 सन्तान	 प्रजनन
अध्यात्म	 अधरा हनु	 उत्तरा हनु	 वाक्	 जिह्वा ।

विद्यार्थी के लिये विद्या प्राप्त करने के समय में—ऋत का पालन करना; मन, वाणी और कर्म में समता का होना; नियमित जीवन रखना; इन्द्रियों पर अपना अधिकार रखना; अन्तःकरणों को शान्त रखना, और बड़ों के प्रति आदर का भाव रखना, अग्निहोत्रादि करना—आवश्यक समझा जाता था। उसकी दैनिक चर्या में इन बातों का समावेश रहता था। स्नातक होने पर विद्यार्थी को आचार्य निम्न उपदेश व्यवहारिक जीवन के संचालन-सूत्र के रूप में देता था—

१—सच बोलना, धर्म का आचरण करना और स्वाध्याय करने में कभी प्रमाद न करना।

२—शिक्षा समाप्त करने पर आचार्य को उचित दक्षिणा देनी चाहिए।

३—ब्रह्मचर्य समाप्त करके गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना चाहिए।

४—सत्याचरण, धर्मपूर्वक व्यवहार करने, जो कुछ उपयोगी और कल्याणप्रद कर्म है, उसके प्राप्त करने; ऐश्वर्य के बढ़ाने, पढ़ने

पढ़ाने; और देव पितरों से सम्बद्ध कार्य में कभी प्रमाद न करना चाहिए।

५—माता, पिता, आचार्य और अतिथि को सदैव देवों की कोटि का मानते रहना चाहिए।

६—जो अच्छे कर्म हैं उन्हीं को करना चाहिए, अन्य बुरे कर्मों को नहीं।

७—गुरु के अच्छे आचरणों का अनुसरण करना चाहिए, अन्यो का नहीं।

८—घर पर आये हुये विद्वान् का सदैव सत्कार करना चाहिए।

९—श्रद्धा से अश्रद्धा से, प्रसन्नता से, अन्यो की लज्जा से, प्रेमभाव अथवा भय से, जैसे भी हो, दान अवश्य करना चाहिए।

१०—यदि किसी सभय कर्तव्याकर्तव्य के निर्णय में सन्देह, विवाद पैदा हो तो अपने से श्रेष्ठ विद्वान् जैसा करें—वैसा करना चाहिए।

यह तैत्तिरीय उपनिषद् के अनुसार शिक्षा विषय का वर्णन हुआ। इससे अतिरिक्त छान्दोग्य में ७।१ पर एक प्रकार और भी मिलता है। इससे शिक्षा के महान् उद्देश्य पर प्रकाश पड़ता है। चारों वेद, इतिहास, पुराण, व्याकरण, मानववंश-शास्त्र। गणितविज्ञान, भूगोल, निधिज्ञान, तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र, भौतिकविज्ञान, तत्वविज्ञान, धनुर्वेद, ज्योतिष, सर्पों के विष को दूर करने की विद्या और सङ्गीतविद्या को जाने हुये नारद ने महर्षि सनत्कुमार के पास जाकर कहा कि भगवन्! आप अध्ययन करावें। सनत्कुमार ने कहा कि जितना तुम जानते हो उतना बतलाओ।

पुनः उसके आगे तुम्हें कहा जावेगा । नारद ने इन पूर्वोक्त सभी विद्याओं को कह सुनाया । सनत्कुमार ने नारद को कहा कि उसका अध्ययन अब तक का केवल “नाम” अर्थात् शब्द मात्र का है । जो कुछ ये विद्यायें हैं वे शब्द के विस्तर हैं । तदनन्तर नाम की अपेक्षा वाणी महती है और वाणी से भी मन महत्तर है, ऐसा नारद को बतलाया । शब्दों का व्यवहार वाणी पर आश्रित है अतः सारे नाम वाणी द्वारा ही बोले जाते हैं । वाणी को प्रेरणा मन से मिलती है । वही वाणी और नाम दोनों का आश्रय है अतः वह वाणी से भी महान् है ही । सनत्कुमार ने नारद को फिर बतलाया कि मन से संकल्प; संकल्प से चित्त; चित्त से ध्यान; ध्यान से विज्ञान; विज्ञान से बल; बल से अन्न; अन्न से जल; जल से तेज; तेज से आकाश; आकाश से स्मरण (स्मृति) ; स्मृति से आशा और आशा से प्राण क्रमशः बढ़े हैं । संकल्प और विकल्प दोनों ही यहाँ संकल्प के अन्दर आ गये हैं । जब मानव संकल्प करता है तो उसके बाद मनन करके वाणी का उच्चारण करता है । वाणी नाम को प्रेरणा देती है । नाम में मन्त्र और उनमें कर्म एक होते हैं, इसलिए इस सारी क्रिया का मूल संकल्प होने से वह मन से बड़ा बतलाया गया । चित्त अनिच्छित पदार्थों, संस्कार, वासना और स्मृति का केन्द्र है । सारे शरीर के कार्य, इसी चित्त के गोलक दूसरे मस्तिष्क से प्रभावित हुआ करते हैं । मनुष्य जो संकल्प करता है वह भी चित्त से प्रभावित और उसके अनुकूल होता है । यही चित्त का संकल्प से बड़ा होना है । ध्यान में मन की एकग्रता है । अतः उसका चित्त से महान् होना आपत्ति कारक नहीं । ध्यान से विज्ञान बड़ा है । बल का न होना वस्तुतः मानव के लिए एक अभिशाप है । बल उससे भी बड़ा और उसका साधन होने से अन्न बल से भी महत्तर है । अन्न का कारण जल और जल का कारण तेज है । आकाश से यहाँ ईश्वर अभिप्रेत भाव्य पड़ता है । यह आकाश जहाँ तेज का

आश्रय है वहां शब्द सुनाई देने और रंगों के दिखाई देने आदि का भी कारण है। जगत् का समस्त व्यवहार शब्दों से चलता है और ये शब्द आकाश के गुण हैं। आखों का समस्त कार्य तेज के गुण रूप पर निर्भर है। रूप के दिखाई देने का कारण आकाश है। अतः तेज की अपेक्षा उसको महत्ता प्राप्त है। आकाश का गुण शब्द और शब्दों का सारा व्यवहार स्मृति के आधीन होने से स्मृति को अपेक्षाकृत बड़ी कहा गया। अप्राप्त को प्राप्त करने की इच्छा का नाम आशा है, विना उसके स्मृति आदि कुछ नहीं होते। प्राण के विना संसार में कुछ नहीं अतः प्राण आशा का भी आधार है। इस शिक्षाक्रम में शारीरिक और मानसिक उन्नतियों का बीज शिक्षाधीन पड़ता है। वस्तुतः शिक्षा के ये ही स्तर होने भी चाहिए। अन्यथा वह एकाङ्गी रह जाती है। प्राण तक पहुँचने पर भी अभी पूरी शिक्षा समाप्त नहीं हुई। प्राण तक ज्ञान प्राप्त करने के बाद भी यह प्रश्न रह जाता है कि प्राण अर्थात् जीवन का लक्ष्य क्या है। मनुष्य प्राण धारण कर जगत् में आता ही क्यों है? उत्तर होगा शाश्वत सत्य की खोज के लिए। यह शाश्वत चिरन्तन सत्य ही मानव जीवन का उद्देश्य है। इस तथ्य पर बल देते हुए ऋषि ने नारद को कहा कि सत्य पर डबने वाला होना चाहिए। इस सत्य की प्राप्ति का साधन विज्ञान, मनन, श्रद्धा, निष्ठा, कृति और सुख है। विज्ञान के द्वारा जानना होता है। ज्ञान की प्राप्ति के बाद मनन आवश्यक है। तदनन्तर सत्यता को धारण करना श्रद्धा है। श्रद्धा शब्द में श्रत् का अर्थ सत्य और धा का धारण करना है। वह निर्णय के बाद ही होती है। श्रद्धा के लिए निष्ठा की परम आवश्यकता है। गुरु-सेवा आदि निष्ठा है। इनसे श्रद्धा बढ़ती है। निष्ठा की प्राप्ति भी कर्म से होती है। यदि मनुष्य में कर्मण्यता न हो तो वह निष्ठावान् भी नहीं हो सकता। इन सबके लिए सुख का होना जरूरी है। अशान्त और दुःखी मनुष्य कर्मनिष्ठ नहीं हो पाता। सुख भी अल्प में नहीं है।

इसकी प्राप्ति अनल्प में होती है। उस अनल्प को ही उपनिषदों में “भूमा” कहा गया है। यह “भूमा” परमेश्वर का नाम है। क्योंकि समस्त संसार अल्प की कोटि में ही आता है। महान् और अनल्प वस्तु वही है। छान्दोग्य उपनिषद् के ऋषि ने इस प्रकार शिक्षा के क्रम को दिखलाते हुए अन्त में अन्तिम ध्येय को दिखला दिया। यदि मानव का यह ध्येय उसकी शिक्षा से पूर्ण न हो पावे तो फिर यह अधूरी ही है। शिक्षा और मानव का अन्तिम ध्येय भौतिक नहीं आध्यात्मिक है। इस भाव की ओर यह स्पष्ट संकेत किया गया है। जगत् नाम, रूप से युक्त है। नाम रूप ही केवल शिक्षा के ध्येय नहीं हो सकते। शिक्षा का ध्येय तो वह होना चाहिए जो शाश्वत और चिरन्तन हो। इसे मनुष्य जीवन के ध्येय के साथ मेल खाना चाहिए। शिक्षा उद्देश्य-पूर्ति की योग्यता का साधन है, साध्य नहीं। छान्दोग्य में ही (४।१०) एक और दृष्टान्त मिलता है। कमल ऋषि का पुत्र उपकोशल सत्यकाम जाबाल के पास ब्रह्मचर्य का व्रत धारण कर विद्या पढ़ने गया। सत्यकाम दूसरे शिष्यों का समावर्तन (दीक्षान्त) करता रहा परन्तु उपकोशल का समावर्तन नहीं किया। ऋषि की पत्नी ने ऋषि को कहा कि यह ब्रह्मचारी पूर्ण तप कर चुका, विद्या प्राप्त कर चुका है अतः इसका समावर्तन होना चाहिए, ऋषि ने बिना उत्तर दिये कहीं अन्यत्र के लिए प्रस्थान कर दिया। उपकोशल ने भोजन छोड़ दिया। कारण पूछे जाने पर उसने बताया कि वह अनेक कामनारूपी व्याधियों से घिरा है, जो कि उसमें नहीं होनी चाहिए। इनके निवारण वह भोजन नहीं खा रहा है। यज्ञाग्निषों ने उपकोशल के तप को देखकर मूक-भाषा में कहा कि यह महान् तप तप चुका है अतः इसे रहस्य की शिक्षा देनी चाहिए। अग्निषों ने कहा—कि प्राण ब्रह्म है, ‘क’ ब्रह्म है और ‘ख’ ब्रह्म है। उपकोशल ने कहा कि वह यह तो जानता है कि

‘प्राण’ ब्रह्म है परन्तु ‘क’ और ‘ख’ भी ब्रह्म हैं—यह वह नहीं जानता । अभियो ने कहा कि जो ‘क’ है वही ‘ख’ है । और जो ‘ख’ है वही ‘क’ है । क और ख बहुत साधारण और प्रारंभिक अक्षर हैं । परन्तु इनके द्वारा ब्रह्म-विषय का ज्ञान कराये जाने का प्रयत्न यहां पर किया गया है । व्यवहार में लोग कहते हैं कि अमुक व्यक्ति तो अमुक विषय का ‘क’ ‘ख’ भी नहीं जानता । जहां व्यावहारिक प्रयोग में ‘क’ ‘ख’ प्रारंभिक ज्ञानमात्र हैं वहां उपनिषद् में उसे रहस्य कहा गया है । ‘क’ का अर्थ सुख ‘ख’ का अर्थ व्यापक है । यह विश्वात्मा में ही घटता है । विश्वात्मा स्वयं एक रहस्यमयी शक्ति है जो उपनिषदों की शिक्षा के रहस्य का आधार-स्तम्भ है । उपनिषदों में मन, वाणी और कर्म की एकता पर विशेष बल दिया गया है । शिक्षक और शिष्यार्थी दोनों के लिए वह वस्तु अत्यन्त ही उपादेय है । मन से जैसा सोचा जाता है वैसा ही वाणी से बोला जाता है । जैसा वाणी से बोला जाता है वैसा ही कर्म से किया जाता है । जैसा कर्म से किया जाता है वैसा ही करने वाला बनता है । इसलिए यह आवश्यक है कि मन, वाणी और कर्म में समता रखी जावे । संक्षेप में यही शिक्षा का रहस्य है ।



संस्कृत के अध्ययनाध्यापन में कुछ नवीनता की आवश्यकता

भारत भारती हिन्दी के राष्ट्रभाषा हो जाने के बाद संस्कृत-भाषा के अध्ययनाध्यापन का मार्ग प्रशस्त होने लगा है। विश्व के भाषापरिवार में एक प्रमुख स्थान रखने वाली संस्कृत भाषा के उत्थान के नये चिन्ह दृष्टिगोचर होने लगे हैं। विशेषतः उत्तर प्रदेशीय सरकार के शिक्षा-विभाग ने स्वतंत्रता-प्राप्ति के थोड़े दिनों में ही संस्कृत के अध्ययन को आशा से अधिक प्रोत्साहन दिया है। उसके कार्य का सफल मूर्त रूप शीघ्र ही एक संस्कृत विश्वविद्यालय के रूप में जन साधारण के समक्ष आने वाला है। इसके अतिरिक्त दूसरे स्कूलों में भी उसने संस्कृत को उसका अपना पूर्व का खोया उच्च स्थान प्रदान किया है। इसमें सन्देह नहीं कि संस्कृत की अभिवृद्धि से राष्ट्रभाषा हिन्दी की निधि में प्रभूत विस्तार होगा। संस्कृत ही हिन्दी के कलेवर में प्राण का स्थान ग्रहण किये है। इसके प्रचार और प्रसार से हिन्दी में दैनंदिन प्रगति होगी। संस्कृत ही वस्तुतः एक ऐसी भाषा है कि जिसमें आज भी ज्ञान-विज्ञान और व्यवहार में आने वाले विषयों की शब्दराशि भरी पड़ी है। यह अपने सभी अंगों से परिपूर्ण है इसमें किसी को कुछ कहने की आवश्यकता

नहीं। हों! यदि कोई बात अपेक्षित है विशेष ध्यान देने की, तो वह है वर्तमान समय में इसके अध्ययन और अध्यापन का प्रकार। एक मध्यकालिक पुरानी परम्परा से चले आ रहे अध्ययन और अध्यापन के प्रकार से संस्कृत का भाषारूप होना छिपा हुआ था—क्योंकि यह विद्या के विषयों से इतनी संकीर्ण बना दी गई थी कि विषय और भाषा का अन्तर ज्ञात ही नहीं होता था। इस समय कुछ सुधार हुए हैं, जिससे भाषा और विषय का स्वरूप पृथक् पृथक् दिखलाई पड़ने लगा है। लेकिन इतना होने पर भी अभी पढ़ाई में कोई विशेष अन्तर दृष्टिगोचर नहीं होता। इसका प्रधान कारण यही है कि वह अपने पुराने ढंग पर ही चल रही है। अन्य स्कूलों में जहाँ पढ़ाई के प्रकार में नये नये परिवर्तन परिवर्धन समय समय पर आवश्यकतानुसार होते रहते हैं, वहाँ संस्कृत पाठशालाओं में अभी वही पुरानी शैली चल रही है। कई बातों में इसकी उपादेयता होने हुए भी इसमें नवीनता के तत्वों के प्रवेश की आवश्यकता है।

वर्तमान समय में संस्कृत शिक्षा का महान् भाग राजकीय संस्कृत कालेज बनारस से पूरा होता है। अन्य विद्यालयों में होने वाला एतद्विषयक अध्ययनाध्यापन या तो इस राजकीय विद्यालय के पटल क्रम से है या किसी छोटे पैमाने पर किसी एक विषय के रूप में है। संस्कृत के अध्ययन में जो पाठ्यक्रम निर्धारित है, वह नवीन गणित आदि विषयों के सन्निवेश से सर्वांगीण हो गया है। इन नवीन विषयों की शिक्षा तो निश्चय ही नवीन ढंग पर दी जावेगी—क्योंकि उसके अध्यापक इसी सूत्र से संचालित और संपादित हुए होंगे। इन विषयों के अतिरिक्त संस्कृत के अन्य जो प्रधान विषय हैं उनके पढ़ाने की शैली भी कुछ परिमार्जित होनी चाहिए। गणित, इतिहास आदि संप्रति अनुप्रविष्ट

संस्कृत के अध्ययनाध्यापन में कुछ नवीनता की आवश्यकता

विषयों को छोड़कर संस्कृत शिक्षा के पाठ्यक्रम में अन्य अनेक विषयों के होने पर भी उन्हें चार वर्गों में ही वर्गीभूत किया जा सकता है—वेद, वेदांग, दर्शन और साहित्य। यद्यपि उपवेद की शिक्षा भारत के कई विद्यालयों में दी जाती है परन्तु उसका संबंध केवल आयुर्वेद से है और यह संस्कृत कालेज और उसके अन्तर्गत विद्यालयों में किसी परिमार्जित पाठ्यक्रम के आधार पर नहीं पढ़ाया जाता है। आयुर्वेद को छोड़कर अन्य उपवेदों की शिक्षा भारतवर्ष में कहीं नहीं दी जाती। गान्धर्ववेद के नाम से गाने आदि की शिक्षाएँ यद्यपि कई संस्थाओं में ऊँचे स्तर की दी जाती हैं परन्तु उन्हें हम उपवेद के रूप की नहीं कह सकते। गान्धर्व वेद का प्रधान अंग सामगान बहुधा शिक्षण में नहीं है। अस्तु फलितार्थ यह है कि वेद, वेदांग, दर्शन और साहित्य विषयों के साथ आज की संस्कृत शिक्षा का पाठ्यक्रम चल रहा है। इनको किस ढंग से पढ़ा-पढ़ाया जावे कि तत्त्व का पूर्णरूपेण बोध हो इस पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। सर्वप्रथम वेद को ही लेना चाहिए। वेद भारतीय संस्कृति के मूल ग्रंथ हैं। इनसे प्राचीन विश्व के पुस्तकालय में कोई ग्रन्थ नहीं। ऋग्वेद के विषय में तो उसकी प्राचीनता पर विप्रतिपत्ति किसी को भी नहीं। परन्तु इन वेदों का अध्ययनाध्यापन आजकल जिस ढंग पर चलता है—उससे उनकी यह महत्ता नहीं व्यक्त हो पाती। ऋग्वेद में नक्षत्रों के विषय में जो दार्शनिक विचार दिये गये हैं, तथा अन्य जो ज्ञान-विज्ञान और समाज-शास्त्र के उपयोगी तत्त्व उसमें निहित हैं—उनका कुछ भी ज्ञान अध्ययन करने वालों को नहीं हो पाता, जिसका होना अत्यन्तावश्यक है। आजकल वेदों की पढ़ाई दो प्रकार की होती है, एक तो कर्मकाण्ड के उद्देश्य को लेकर केवल कण्ठस्थीकरण और तत्सम्बन्धी श्रौत, गृह्यसूत्रों आदि की पढ़ाई और दूसरी अर्थज्ञान की दृष्टि से नैस्वत प्रक्रिया के द्वारा। विद्यार्थी दोनों में ही बहुत थोड़े होते हैं। परन्तु इन

थोड़ी संख्या वालों को भी वेद-शिक्षण का उद्देश्य लाभ नहीं हो पाता। केवल कण्ठ करने वालों के पक्षे अर्थ तो कुछ पड़ता नहीं। नैस्वक्त प्रक्रिया वालों में भी वेद की महत्ता के अनुरूप ज्ञान नहीं हो पाता। इस न्यूनता को पूरा करने के लिए अध्यापक और विद्यार्थी दोनों को पढ़ाने और पढ़ने के प्रकार में परिवर्तन करना चाहिए। विद्यार्थियों को चाहिए कि वे केवल याद कर परीक्षा पास कर लेने के लिये ही न प्रयत्न करें बल्कि अन्तःस्तल में पैठकर तत्त्व-ग्रहण करने की उत्सुकता रखें। अध्यापक को जहाँ मंत्रों के शब्दार्थ बताने हैं वहाँ उसे चाहिए कि वह आशय को भी खोलकर सामने रख देवे। वह इस बात को विद्यार्थी में जमा देवे कि वेद केवल कर्मकाण्ड के लिए ही नहीं हैं बल्कि उनका इसके साथ साथ अर्थाभिप्राय भी है जिसमें अनेकों ज्ञान विज्ञान भासित होते हैं। वह इस धारणा को समूल नष्ट करें कि वेद-मंत्रों का कोई अर्थ नहीं होता, वे केवल कर्म कराने के लिए ही हैं। वेदों का अभिप्राय जानने के लिए देवता स्वर, ऋषि और छन्द का परिज्ञान उपयोगी बतलाया गया है। आजकल कण्ठ करने वाले इन्हें नाम से कण्ठ कर लेते हैं परन्तु अर्थ के लिए इनका प्रयोग नहीं करते। वह क्यों? इसलिए कि अत्यन्त प्राचीन वेदार्थप्रक्रिया का अध्ययन छूट गया है। वेदों के अध्ययन में देवता एक ऐसी कुंजी है कि उसका परिज्ञान विद्यार्थी को अवश्य कराया जाना चाहिए। बिना इसके वह वेद के विषय को हृदयंगम नहीं कर सकता। देवता वस्तुतः क्या है? इसका परिज्ञान आवश्यक है। देवता के विषय में दो धारणायें प्राचीन काल से चली आ रही हैं—एक तो यह कि देवता वह है जिसको यज्ञ में आहुति दी जाती है और दूसरी यह है कि देवता वेदमंत्रों का विषय है। पहली धारणा पर ही आजकल लोग अधिक बल देते हैं। दूसरी को सर्वथा छोड़ देते हैं, जबकि वेद की महत्ता उसी पर आधारित है। इस दूसरी दृष्टि के अनुसार समस्त वेद मंत्रों के

प्रतिपाद्य विषय ढाई सौ देवताओं के नाम से गृहीत होंगे। यदि इनका दार्शनिक-दृष्टि से विवेचन हो तो ये सभी परस्पर अन्तर्भूत होकर ३४ देवता ही ठहरेंगे और ये ही वेद-प्रतिपाद्य विषय तथा मानव-मस्तिष्क के ज्ञान के विषय होंगे। ये ३४ देव हैं—प्राण, अपान, उदान, व्यान, समान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनंजय, आत्मा, पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, सूर्य, चन्द्र, ग्रहनक्षत्र, वर्ष के १२ मास जो बारह सूर्य कहलाते हैं, यज्ञ, इन्द्र और विश्वात्मा। ये भी कार्यकारण-भाव से परस्पर एक दूसरे में अन्तर्भूत हो समय, देश, शक्ति, आत्मा, विद्युत् और मन के विचारपूर्वक कार्य और विश्वात्मा के रूप में शेष रह जाते हैं। इन छः का भी विश्लेषण करने पर समय, देश, शक्ति, विद्युत्, विचारपूर्वक कार्य आदि मैटर में अन्तर्निहित होते हैं, आत्मा और विश्वात्मा की अपनी सत्ता है। इस प्रकार सभी वैदिक देवताओं के विश्लेषण से जगत् के मूल में प्रकृति, आत्मा और परमात्मा—तीन—तत्त्व ठहरते हैं। ये ही वेदमंत्रों के देवता हैं—प्रतिपाद्य विषय हैं और सारी दार्शनिक प्रक्रियाओं के मूल उद्गम स्थान हैं। इस विशेष ज्ञान को विद्यार्थी को वेद का अध्ययन कराते समय दिया जाना चाहिए। इससे अध्ययन सफलीभूत होगा।

वेदांगों में शिक्ता, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्दः और ज्योतिष के अध्ययन होते हैं। परन्तु व्याकरण की ही प्रधानता से पढ़ाई होती है। उसके बाद ज्योतिष की कुछ पढ़ाई होती है। व्याकरण में मध्यकाल के कुछ ग्रन्थ जो केवल शास्त्रार्थों से भरे हैं और जिन शास्त्रार्थों की आज कोई आवश्यकता विशेष नहीं पड़ती है, वे ही पढ़ाये जाते हैं। विद्यार्थी शब्द जाल में ही पड़ा रह जाता है। व्याकरण उद्देश्य का साधक है स्वयं उद्देश्य नहीं परन्तु हमारी आज कल की शिक्ता में, वह साध्य बना हुआ है। उसको ही पढ़त पढ़त सारा समय व्यतीत हो जाता है। यह अच्छा

हुआ कि अब पाठविधि में वह भी विषयों का भाति विशेषता प्राप्त करने वालों का विषय रहेगा, सबके लिए नहीं। फिर भी अधिक बल इस समय परीक्षा में व्याकरण पर ही है। ज्योतिष पढ़ाते समय आधुनिक पाश्चात्य ज्योतिष पर ध्यान नहीं दिया जाता। वस्तुतः इस समय ज्योतिष का जितना बढ़ा हुआ विज्ञान है उसके जाने बिना कोई भी विद्यार्थी भारतीय ज्योतिष में भी निष्णात नहीं हो सकता। ज्योतिषविद्या के विज्ञान को पूर्णतया प्राप्त करने के लिए दोनों तरफ के विचारों के अध्ययन की आवश्यकता है। अध्यापक को पढ़ाते समय तुलनात्मक और प्रयोगात्मक अध्ययन विद्यार्थी को कराना चाहिए। केवल शब्दार्थ याद कर लेने से ज्योतिर्विज्ञान का अर्थ भी पल्ले नहीं पड़ सकता। निरुक्त का वेदांगों में एक प्रमुख स्थान है परन्तु इसकी पढ़ाई नहीं के बराबर है। जो नाम मात्र की पढ़ाई होती भी है वह केवल पंक्तियाँ लगाने में ही सार्थक हैं। पढ़ाते समय केवल व्याकरण के बल से ग्रन्थ लगाने का प्रयत्न होता है, विषय पर बल कम दिया जाता है। वस्तुतः वेदमंत्रों पर घटाकर प्रत्येक वस्तु को पढ़ाना चाहिए। जिससे इसके पढ़ने से वेदार्थ में विद्यार्थी की गति हो सके। कल्प की शिक्षा तो बिलकुल ही नहीं दी जाती और उसके देने वाले भी थोड़े ही व्यक्ति हैं। इसका प्रधान कारण है कि इस विद्या का प्रचार समाप्त हो गया। न बड़े बड़े यज्ञ-याग होते हैं और न कल्प ब्राह्मण आदि ग्रन्थों की होगों को आवश्यकता पड़ती है। वास्तविकरूपेण यदि देखा जावे तो इस विद्या के प्रचार की भी आवश्यकता है। मंत्र, ब्राह्मण और कल्प के परिज्ञान के बिना वैदिक यज्ञों का समृद्ध रूप पूरा नहीं हो सकता। जो वेदांग नहीं पढ़ाये जाते उनका प्रचार प्रायः लुप्त होता जा रहा है। उन्हें सुरक्षित रखने के लिए यत्न करना चाहिए। जो चतुर्दश विद्यायें प्राचीन काल से सुरक्षित हैं उन्हें अक्षय रखना संस्कृतज्ञों और उसके प्रेमियों का कार्य है।

दर्शन के अध्ययन का प्रकार भी इस समय ठीक नहीं है। इसमें भी विद्यार्थियों को केवल शास्त्रार्थों को रटाने और एकपद के स्थान में दूसरे पद का सन्निवेश करने की शिक्षा-मात्र ही दी जाती है। एक तो भारतीय दर्शनों का नवीन भाग स्वयं ही भाषा के जाल से भरा है दूसरे ठीक ढंग की पढ़ाई का प्रबन्ध न होने से विद्यार्थी को विषय का बोध कुछ भी नहीं होता। पढ़ाने और पढ़ने में प्राचीन दर्शनों पर अधिक बल न देकर नवीन भाग पर अधिक बल दिया जाता है। यदि प्राचीन भाग को पढ़ाया जावे तो विद्यार्थी को विषयावगम अधिक हो सकता है। एक बात जो नितराम् आवश्यक है, वह है दर्शनों के अध्ययन के समय पाश्चात्य दर्शनों का तुलनात्मक परिज्ञान कराना। बिना इसके बहुत सी विशेष प्रक्रियाओं का ज्ञान नहीं हो पाता। दर्शन का अध्ययन करते समय उस प्रक्रिया के प्रारंभ और विकास का इतिहास भी विद्यार्थी को बताया जाना परमावश्यक है। सांख्य को पढ़ाते समय कारिका और वृत्ति तो पढ़ाई जाती हैं परन्तु यह नहीं बताया जाता कि इस सिद्धान्त का विकास और विस्तार कब, कैसे और किसके द्वारा हुआ। भारतीय दर्शनों में सांख्य की प्रक्रिया सर्व प्राचीन है, उसके प्रस्थापक को आदि विद्वान् (First Philosopher) कहा जाता है। इसमें कितने विचार भेद रहे—इन सभी बातों का परिज्ञान अध्ययनार्थी को होना चाहिए। दर्शनों में सबसे अधिक आजकल नवीन न्याय का प्रचार है। यही विद्यार्थी परीक्षाओं में अधिक लेते हैं। परन्तु प्राचीन न्याय का संघर्ष में आने से नवीन न्याय तक क्या रूप बना ? और क्यों बना ? साथ ही इस प्रक्रिया के खण्डन में बौद्धधर्म के प्रकाण्ड नैयायिकों ने क्या क्या विचार प्रकट किये—इत्यादि बातें अध्ययन के आवश्यक अंग हैं। पूर्वीय दर्शनों को पढ़ाते समय सम्बन्धित विषयों पर पाश्चात्यों के विचारों को विद्यार्थी को जनाना आवश्यक है, यह ऊपर कहा गया है। परन्तु आजकल इधर ध्यान नहीं दिया जाता। इससे

बहुत उपयोगी बातों के ज्ञान से विद्यार्थी वंचित रह जाते हैं। निदर्शन के रूप में देश और काल (Time and space) एवं कारणवाद (Causation) के विचार को लिया जा सकता है। इस पर पाश्चात्य दार्शनिकों ने बहुत प्रांजल विचार किया है। यद्यपि भारतीय दर्शनों और व्याकरण ग्रन्थों, तथा बौद्ध दर्शन के ग्रन्थों और किन्हीं साहित्य के ग्रन्थों में भी इन विषयों पर विचार किया गया है—परन्तु पाश्चात्य दार्शनिकों ने आज तक और महाविज्ञानवेत्ता आइन्स्टीन ने इस विषय पर जो परिणाम लोगों के सामने उपस्थित किये हैं, उनके परिज्ञान के बिना इस विषय का अध्ययन पूरा नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः यदि देखा जावे तो इस विषय में पाश्चात्य विचारक आगे बढ़े हुए हैं। ऐसी ही बात कर्त्तव्यमीमांसा के विषय में भी देखी जाती है। कर्त्तव्य-मीमांसा विषय का अध्ययनाध्यापन दार्शनिक ढंग पर बहुत ही न्यून होता है। मीमांसा-दर्शन का तो प्रचार भी अब अध्ययन के क्षेत्र में नहीं के बराबर ही है।

व्याकरण के बाद अधिक संख्या विद्यार्थियों को साहित्य में होती है। साहित्य को सरल समझकर अधिक लोग इसे पढ़ते हैं। दूसरी बात यह है कि इसमें सरसता भी होती है—व्याकरण और दर्शन की भांति विषय में रूखापन नहीं है। इसमें लक्षण ग्रन्थों के साथ काव्यग्रन्थ, नाटक और चम्पू आदि की शिक्षा दी जाती है। लक्षण ग्रन्थों में शास्त्रार्थ को ही अधिक बढ़ाया गया है। कुवलयानन्द आदि कई ऐसे ग्रन्थ हैं कि जो व्याकरण और दर्शन की ही भांति शास्त्रार्थों से जटिल हो गये हैं। लक्षणों की जितनी आवश्यकता है उतनी शास्त्रार्थों की नहीं। लक्षण और लक्ष्य के हृदयंगम कर लेने पर विद्यार्थी स्वयं शास्त्रार्थ को कल्पना कर लेगा। शास्त्रार्थ कोई ऐसा विषय नहीं कि उसी पर अधिक बल दिया जावे। हाँ ! इतना अवश्य होना चाहिए कि पक्ष विपक्ष की युक्तियाँ विद्यार्थियों को बतला दी जावें। कुवलयानन्द के “काकतालीयम्” साहित्यदर्पण के

“नखत्तताभं” और श्लेषालंकार के शास्त्रार्थों को पूरा पूरा रट लेने से विद्यार्थियों को कोई अज्ञातज्ञ नहीं ज्ञात हो जाता कि उस पर ही अधिक माथापत्ती की जावे। साहित्य का अध्ययन इसलिए भी पर्याप्त नहीं हो पाता कि संस्कृतसाहित्य में गद्य-काव्य के ग्रन्थ की बड़ी कमी है। कादम्बरी, दशकुमारचरित, श्रीहर्षचरित, वरदाम्बिका-परिणय-चम्पू तथा शिवराज-विजय आदि कुछ इने गिने ग्रन्थ ही इस विषय में पाये जाते हैं। साहित्य के अध्ययन को उन्नत करने के लिए केवल प्राचीन ग्रन्थों पर ही निर्भर नहीं रहना चाहिए अपितु नये काव्य और गद्य ग्रन्थों की रचना भी होनी चाहिए। साहित्य कोई ऐसा विषय नहीं कि इसके केवल पढ़ने से ही पर्याप्त हो जावे। यह तो नये साहित्य के सर्जन के लिए उपयोगी है। विद्यार्थियों में इस योग्यता के संपादन के लिए प्रवृत्ति उत्पन्न की जानी चाहिए। साहित्य समाज के साथ चलता है। समाज की छाप इस पर रहती है। साहित्यिक को समाज के अध्ययन की क्षमता होनी चाहिए। इसमें सन्देह नहीं कि यदि संस्कृत के अध्ययनाध्यापन में इस प्रकार की कुछ विशेष आधुनिक बातें ग्रहण कर ली जावें तो वह अधिक उपयोगी और कुशलता की प्राप्ति का साधन बन जावे।



वर्तमान संस्कृत-शिक्षा और वेदों का अध्ययन- ध्यापन

हमारा संस्कृत-साहित्य अपना एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। संस्कृत भाषा की भी महत्ता सर्वथा इस दृष्टि से स्वीकार्य ही है कि भारतीय संस्कृति और सभ्यता का सारा उदात्तपन इसके साथ सम्बद्ध है। दर्शन, धर्मविज्ञान, विज्ञान, कला और ललितकलायें आदि भारत की प्रसिद्ध देन इस भाषा में सुरक्षित हैं। वर्तमान समाज के विकास को देखते हुए यदि इस विषय की कोई प्रेरणा हमें सामाजिक निमाण के स्वरूप को बताने की मिल सकती है तो वह भी संस्कृत और संस्कृतसाहित्य से ही मिलेगी। ऐसी परिस्थिति में संस्कृत का अध्ययनाध्यापन भारतीयों के लिए एक अनिवार्य सी वस्तु है। उत्तरप्रदेशीय सरकार सदा धन्यवाद की पात्र रहेगी कि उसने संस्कृत के अध्ययन को प्रगति पर ले जाने का सर्वप्रथम प्रयास किया और अब भी वह सतत प्रयत्न कर रही है। संस्कृत-शिक्षा के विषय में सारे भारत के शिक्षणसूत्र में एकतानता होनी चाहिये। आशा है यह प्रयत्न सदा चलता रहेगा।

संस्कृत-भाषा सदा लौकिक और वैदिक भेद से दो प्रकार की रही है। इस तथ्य को वेद से लेकर अवाचीन काल के संस्कृत वाङ्मय ने

समानरूप से स्वीकार किया है। वैदिक साहित्य में कर्मकाण्डी लोगों को दोनों वाणियों का बोलने वाला कहा गया है—वैदिक वाणी और लौकिक वाणी। कर्मकाण्ड-काल में वैदिक वाणी का प्रयोग करते हैं और व्यवहार-काल में लौकिक वाणी का। इसलिए संस्कृतभाषा के सदा से दो रूप चले आ रहे हैं—लौकिक और वैदिक। इसी आधार पर हमारा संस्कृत वाङ्मय भी सदा वैदिक और लौकिक दो प्रकार का रहा है। ब्राह्मणों और उपनिषदों में दोनों वाणियों की संकीर्णता का थोड़ा सा भास मिलता है परन्तु वह प्रयोग सफल नहीं हुआ। दोनों भाषाओं के व्याकरण-नियम भी सदा पृथक् रहे। वेदों के व्याकरण-नियम लौकिक व्याकरण-नियम से भिन्नता पहले भी रखते थे और अब भी रखते हैं। इनके इन नियमों का संग्रह प्रातिशाख्यों में पाया जाता है—जो आज स्यात् ही कहीं पढ़ाई जाती हों और कहीं उनकी पढ़ाई है भी तो बहुत नगण्यरूप में। वर्तमान पाणिनीय व्याकरण लौकिक और वैदिक दोनों व्याकरण-नियमों का संग्रह है। इसके आधार पर बने हुए प्रक्रिया के ग्रंथों में 'वैदिक-प्रक्रिया' नाम से एक अलग प्रकरण ही बना दिया है—जबकि अष्टाध्यायी में दोनों प्रकार के नियम प्रकरणशः साथ ही हैं। वैदिक प्रक्रिया को वेद में लागू होने के कारण छोड़ दिया जाता है। जिससे लौकिक संस्कृत का निष्णात होने पर भी वैदिक संस्कृत का परिज्ञान नहीं हो पाता। यद्यपि दोनों का परिज्ञान विद्यार्थी को होना चाहिये। व्याकरण-महाभाष्य के कर्ता पंतजलि यह प्रतिज्ञा करते हैं कि उनके भाष्य में मूल अष्टाध्यायी की भाँति लौकिक और वैदिक दोनों प्रक्रियाओं और दोनों प्रकार के शब्दों का प्रतिपादन किया गया है। भाष्यकार यह भी कहता है कि व्याकरण पढ़ने का उद्देश्य षडङ्गसहित वेद के अध्ययनाध्यापन और रक्षा के लिये है। उसके इस कथन का महत्त्व कितना अधिक हो जाता है जब यह विचार सामने आता है कि वेद

सभ्यता और ज्ञान की वह निधि हैं—जो विश्व के पुस्तकालय में अपना सर्व प्रथम स्थान रखते हैं। अतः उनका अध्ययनाध्यापन तो होना ही चाहिए। वर्तमान समय में संस्कृत शिक्षा के मुख्य केन्द्र संस्कृत कालेज बनारस में अष्टाध्यायी को प्राचीन व्याकरण के शिक्षा पटल में रख देने से लौकिक और वैदिक दोनों व्याकरणों का ज्ञान विद्यार्थी को हो सकता है परन्तु इसकी ओर प्रोत्साहन अभी न्यून है। बहुत थोड़े विद्यार्थी इस विषय को लेते हैं। इस ओर अधिक प्रोत्साहन विद्यार्थियों को दिया जाना चाहिये। साथ ही इस अध्ययनाध्यापन के प्रकार में भी परिवर्तन होना चाहिए। इसके पढ़ाने का दृष्टिकोण वही नहीं होना चाहिए जो प्रक्रिया के ग्रन्थों के पढ़ाने का है। अष्टाध्यायी की पढ़ाई सूत्रों और प्रयोगों के आधार पर अच्छी तरह चलायी जा सकती है।

वेदों के अध्ययनाध्यापन के दो क्रम आजकल देखे जाते हैं। पहला क्रम वह जो विश्व विद्यालयों और कालेजों में कुछ चुने हुए सूक्तों के रूप में वेद पढ़ाये जाते हैं। सूक्तों का संग्रह बहुधा विदेशी विद्वानों के भाष्यों के साथ होता है जिसका भारतीय विद्यार्थी पर कोई अच्छा प्रभाव नहीं पड़ता। हाँ वेदों के प्रति एक धुरी धारणा अवश्य बन जाती है जो एक प्रेजुडिस का रूप धारण कर लेती है। इस क्रम में वेद के मूल अर्थ तक पहुँचने का कोई साधन नहीं पाया जाता है। विद्यार्थी के लिए केवल इतना कहने का अवसर अवश्य हो जाता है कि उसने वेद भी पढ़ा है। “स जनास इन्द्रः” और “अस्य वामीय” सूक्त एक बहुत उदात्त भावना के पोषक और वैज्ञानिक तथ्य से युक्त हैं परन्तु पढ़ने वाले टीकाओं तक रूढ़कर उस भावना तक नहीं पहुँच पाते। वस्तुतः इन बातों में पढ़ना ही नहीं चाहिए कि वेदों का काल क्या है ? उनमें व्यक्तियों के इतिहास हैं— या नहीं—उनमें क्या है ? यह देखना चाहिए, इससे पहली

समस्यायें सुलभ सकती हैं। यहाँ पर यह बात विशेष ध्यान देने की है कि वेद को पाठ्यक्रम में यदि इस क्रम के अनुसार रखा जाता है तो उसके मूलार्थ तक पहुँचने के लिए वैदिक व्याकरण और निष्कृत का भी कुछ परिज्ञान सहायक रूप में कराया जाना चाहिए। ऐसा करने से विद्यार्थी अपने आप भी वेद के सूक्तों के अर्थ समझने में कुछ समर्थ हो सकेंगे। साथ ही वेद के अर्थ को समझने के लिए पाश्चात्य विद्वानों के सूक्त संग्रहों को हटाकर नवीन भारतीय विद्वानों के ऐसे ग्रन्थ रखने चाहिए। अब तो ऐसे भी भाष्यकार वेदों के निकल रहे हैं जिनका विचार यह है कि सभी वेदमंत्र आध्यात्मिक धारणाओं के पोषक हैं। अरविन्दाश्रम से निकलेल वाले भाष्य लगभग इसी धारणा को पुष्ट करते हैं। महाभारत-काल तक उसके बाद भी बहुधा वैदिकों का यही विचार है कि वेदमंत्रों के अधियाज्ञिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक तीनों ही अर्थ होते हैं। इसको कसौटी पर कसने के लिये पूर्वोक्त क्रम में कोई साधन नहीं प्रस्तुत किया जाता। अतः यह पहला वेद पढ़ाने का क्रम अत्यन्त ही त्रुटिपूर्ण और अधूरा है। इसमें परिवर्तन की आवश्यकता है।

वेदाध्ययन का दूसरा क्रम संस्कृत की शिक्षा देने वाले कालेजों का है जिनमें गवर्नमेन्ट संस्कृत कालेज बनारस सबसे बड़ा और अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है। वैसे तो कई प्रान्तीय विश्वविद्यालयों, संस्कृत-समितियों के द्वारा भी संस्कृत की शास्त्री, तीर्थ, आचार्य, आदि की परीक्षाओं का पाठ्यक्रम चलाया जाता है और इनमें वेद विषय की शिक्षायें भी दी जाती हैं परन्तु अखिल-भारतीय रूप इस दिशा में गवर्नमेन्ट संस्कृत कालेज बनारस को ही प्राप्त है। अब तो उत्तर-प्रदेशीय शासन उसे संस्कृत-विश्वविद्यालय का रूप दे रहा है। यह कालेज और दूसरी समितियाँ आदि जो वेद का अध्यापन कराती हैं वह

पहले कहे गये क्रम से पृथक् हैं। यहाँ वैदिक और साधारण परीक्षाओं के ढंग से परीक्षाओं का क्रम रख दिया गया है जो मध्यमा से प्रारम्भ होता है। प्रथमा में कुछ अध्यायों का कण्ठस्थ करना और सामान्य पाठ्यक्रम है। वेद विषय में केवल वेद सम्बन्धी विषयों की ही परीक्षाएँ चलती हैं और साधारण विभाग का क्रम वेदातिरिक्त सामान्य संस्कृत साहित्य से सम्बन्ध रखता है। इसमें व्याकरण, दर्शन, साहित्य आदि विषय समाविष्ट हैं। जबकि वेद-विभाग में केवल वेद-सम्बन्धी विषय ही हैं यहाँ पर केवल वेद-सम्बन्धी शिक्षा की ही चर्चा करनी है। प्राचीन समय में लोग वेदों के रक्षार्थ मंत्रों को कण्ठस्थ रखते थे। अब भी थोड़ी संख्या में ऐसे वैदिक पाये जाते हैं जिन्हें अपनी अपनी शाखा के अनुसार वेद कण्ठस्थ हैं। ऐसे दो एक वैदिक मिले हैं जो ऋग्वेद को उल्टे सीधे कहीं से पूछने पर ज्यों का त्यों सुना सकते हैं। ये सभी धन्यवादाह हैं। परन्तु वेदों के अर्थ को बिना जाने केवल रट लेने से कर्मकाण्ड का ही कार्य चलता है और मंत्रों की रक्षा होती है, अर्थ बिना जाने उनमें निहित तलों का परिज्ञान नहीं होता और इससे दैनिक जीवन के विकास में वे सहायक नहीं हो पाते। वेदमंत्रों की एक प्रक्रिया यज्ञ की सिद्धि के लिये है और कर्मकाण्ड को सम्पन्न करने में उसका प्रयोग है—यह ठीक है परन्तु वेद-मंत्रों के अर्थ नहीं, वे केवल यज्ञ में बिना अर्थ बोले जाने के लिये ही हैं—यह धारणा प्रशस्त नहीं है। यास्क और जैमिनि आचार्यों ने इस पर पर्याप्त प्रकाश डाला है और यह प्रकट किया है कि अधियज्ञ, अधिदेव और अध्यात्म सम्बन्धी तीन प्रकार के अर्थ वेद मंत्रों के पाये जाते हैं। इन अर्थों का जानना मानव कल्याणार्थ उपयोगी होगा। वर्तमान वेद-सम्बन्धी पाठ्यक्रम में कई आचार्यों के भाष्य भी रखे गये हैं परन्तु उनका उपयोग विद्यार्थियों की इच्छा और आर्थिक सुविधा पर है। पहले तो वेद-विभाग में विद्यार्थी ही बहुत थोड़े होते हैं और हुये भी तो इन

भाष्यों को कौन पढ़ता है। कर्मकाण्ड की ही दृष्टि से जो पहले से चली आ रही है, वेदों की शिक्षा थोड़ी सी दी जा रही है। वेदार्थ को विद्यार्थी समझें इसके लिये एक 'निरुक्त-प्रक्रिया' इस विभाग में और प्रारम्भ की गई परन्तु इसमें विद्यार्थी बहुत ही न्यून अथवा न के बराबर ही रहते हैं। शास्त्री तक थोड़े दो चार विद्यार्थी भले ही पढ़ते हों आचार्य तक स्यात् कोई ही पहुँचता हो। अतः वेदार्थ के दृष्टिकोणों को देखने का अवसर ही उसे नहीं मिलता है। शेष वेद सम्बन्धी पाठ्यक्रम में अब निरुक्त, ब्राह्मण, गृह्यसूत्र और थोड़े से भाष्य आदि भी रख दिये गये हैं परन्तु पढ़ाने का स्तर लगभग कर्मकाण्ड के उपयोग से आगे नहीं बढ़ता। वेदों की ओर, न पढ़ने वालों की ही अधिक रुचि है और न स्यात् पढ़ाने वालों की ही। पढ़ाने वाले भी स्यात् भारत में इने गिने ही हों। यद्यपि अब वेद सम्बन्धी पाठ्यक्रम के बनाने में पर्याप्त सतर्कता रखी गई है परन्तु पढ़ाने वाले वे हैं जो या तो कर्मकाण्ड के अनुसार वेदों को पढ़कर आये हैं अथवा व्याकरण आदि विषयों को पढ़ा है और निरुक्त आदि बिना पढ़े ही वेदसम्बन्धी निरुक्त आदि शास्त्रों की शिक्षा देते हैं। कुछ गुरुकुलों में भी वेद की शिक्षा दी जाती है जो अर्थ को दृष्टि में रखकर दी जाती है। परिणाम में सफलता संस्कृत पाठ्यक्रम के वेद-शिक्षा विषय के क्रम से इसमें अधिक पायी जाती है। फिर भी अभी वेदानुसंधान का यहाँ पर भी कोई रूप नहीं है।

वेदों की शिक्षा प्रशस्त रूप से दी जावे—इसके लिए वेदांगों, ब्राह्मण-ग्रन्थों, आरण्यकों और उपनिषदों का अध्ययन आवश्यक है। उपवेद तो बहुधा लुप्त ही हैं। केवल आयुर्वेद मिलता है। उपाङ्ग दर्शन हैं अतः वे सब यदि बढ़ा दिये जावें तो वेद का पाठ्यक्रम ही बहुत बड़ा हो जावेगा। फिर भी साधारण ज्ञान आवश्यक है। अङ्गों में छः में से शिक्षा, कल्प, निरुक्त छन्द और व्याकरण तो वेद के अध्ययन के लिए आवश्यक हैं। यद्यपि ज्योतिष वेदार्थ के जानने के लिए विषय रूप में बड़ा ही उपयोगी है परन्तु

शिक्षण-तरङ्गिणी

यह एक स्वतन्त्र ही विषय रह सकता है। कल्प में श्रौत, गृह्य और धर्म सूत्रों का समावेश है। ये वेद को समझने में सहायक हैं। निरुक्तशास्त्र तो परम ही सहायक है। इनमें श्रौत और गृह्य कर्मकाण्डों से सम्बन्ध रखते हैं जो पौरोहित्य और याज्ञिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए हैं। ब्राह्मणग्रन्थों में भी कर्मकाण्ड का प्रतिपादन है परन्तु उनके अध्ययन से वेदों के समझने में सहायता अत्यधिक मिलती है जबकि उनको कर्मकाण्ड की दृष्टियों से ऊपर उठकर पढ़ा पढ़ाया जावे। यौगिक प्रक्रिया के आधार पर ब्राह्मणों में वेदों के बहुत से वैज्ञानिक अर्थ खोले गये हैं। वैसे यदि विचारा जावे तो निरुक्त और ब्राह्मण ग्रन्थों का वेद के परिज्ञान के साथ अधिक सम्बन्ध है। आरण्यक भी ब्राह्मणों के ही भाग हैं। निरुक्त में वेदार्थ के लिये जिन निरुक्तियों का प्रदर्शन मिलता है वे भी ब्राह्मण ग्रन्थों से आधारित हैं। इसलिए इन्हें एकान्ततः कर्मकाण्ड का प्रतिपादन करने वाला नहीं समझना चाहिए। आज तक वेद की दिशा में अध्ययन कराने वाले लोग मीमांसा, श्रौत्रसूत्र और ब्राह्मणों का सम्बन्ध जोड़कर वेद के अध्ययन का सम्पादन विशुद्ध कर्मकाण्ड के ही आधार पर करते थे। उवट, महीधर और सायण के भाष्य भी विनियोग-परक ही हैं। हां !! किन्हीं स्थलों पर विनियोग नहीं मिला तो दूसरा अर्थ कर दिया है। कहने का तात्पर्य यह है कि वेदाध्ययनाध्यापन का बहुधा स्वरूप कर्मकाण्ड-परक ही वर्ता जा रहा है। वेदों को अमुक वर्ण या व्यक्ति लोग पढ़ें, अमुक न पढ़ें—यह भी भेदभित्ति कर्मकाण्ड को ही लेकर खड़ी हुई थी।

वेदों के अध्यापन करते समय संहिताओं के सार्थक अध्ययन पर अधिक बल दिया जाना चाहिए। संहिताओं में अनेक ज्ञान के रत्न मिलते हैं। समाज के निर्माण का मूलपूत्र और सिद्धान्त पुरुषसूक्त के विराट् सम्बन्धी विचार से मिलता है। ऋग्वेद का १० वें मंडल का १२९ सूक्त, ७२ सूक्त और १९० वें सूक्त से सृष्टि-विद्या का दार्शनिक और

वैज्ञानिक स्तर का ऊँचे दर्जे का विचार मिलता है। ऋग्वेद के प्रथम मंडल के १६४ वें सूक्त में विज्ञान-सम्बन्धी बातें मिलती हैं। अथर्व के अस्यवामीय सूक्त में यही धारणा मिलती है। अथर्व का स्कम्भ-पुस्त, उच्छिष्ट और ब्रह्मौदन सूक्त सृष्टि और अध्यात्म विद्या के रहस्य को बतलाते हैं। इसी प्रकार “केन पाष्णी आभूते” इस सूक्त में शरीर-विज्ञान का और अथर्व काण्ड ८। सूक्त ५ में कृषि-विज्ञान का वर्णन है। इस प्रकार वेदों के मूलपुस्तों पर यदि विचार किया जावे और विद्यार्थी को उनके अर्थ को जनाने का प्रयत्न किया जावे तो समाज-विज्ञान, विज्ञान, सृष्टि-विज्ञान, आयुर्वेदविज्ञान, दर्शन आदि अनेक धारणाएँ मिल सकती हैं। वेदों के पढ़ने पढ़ाने में मुख्य बात देवताओं की परिभाषाओं को समझने की है। इन्हीं में वैज्ञानिक, आध्यात्मिक आदि सभी धारणाएँ छिपी हैं। ऋग्वेद १।४०।५ में इस बात का प्रतिपादन है कि वेद-मन्त्र देवताओं का घर है। अर्थात् ये देवता वेदमन्त्रों के प्रतिपाद्य विषय हैं अन्य कुछ नहीं। यास्क का निरुक्त देवताओं के अर्थों पर अच्छा प्रकाश डालता है और उसके अनुसार ये देवता वैज्ञानिक तत्व के अतिरिक्त कुछ नहीं ठहरते। वह अग्नि को पृथिवी स्थान, इन्द्र अर्थात् वायु को अन्नरिक्तस्थान और सूर्य को द्यस्थान मानता है। इन्हीं तीन स्थानों में मुख्य वैज्ञानिक तत्वों का सन्निवेश उसके अनुसार है। विष्णु का अर्थ भी यास्क सूर्य मानता है। इस प्रकार देवताओं का अर्थ समझ लेने पर विद्यार्थी को वेदों के मन्त्र वैज्ञानिक अर्थ को देते हुये दिखलाई पड़ेंगे। जब इन देवताओं का उसे आ योगिक दृष्टिकोण मादूम हो जावेगा तो मन्त्र अध्यात्म का प्रतिपादन करते हुए मिलेंगे। अर्थ जानने के लिए ये देवता कुंजी हैं। इन्द्र, रुद्र, अग्नि, आदित्य आदि देवता वेदमन्त्रों में मिलते हैं। इनको यदि ब्राह्मण ग्रन्थों को उठा कर देखा जावे और उनके आधार पर पढ़ाया जाये तो वेद का बहुत कुछ ज्ञान विद्यार्थी को मिल सकता है। उदाहरणार्थ

ब्राह्मण-विरचिणी

संक्षेप में इन देवताओं का ब्राह्मण ग्रन्थों से अर्थ दिखलाया जाता है। तैत्तिरीय-ब्राह्मण २।२।१०।४ में बतलाया गया है कि इन्द्र वह है जिसमें इन्द्रियों सार्थक होती हैं—अथात् आत्मा। पाणिनीय व्याकरण ५।२।९ सूत्र से “इन्द्रिय” शब्द की सिद्धि भी इसी धारणा पर आधारित है। शतपथब्राह्मण ४६।७।११ और ४।१३।१९ के अनुसार क्रमशः इन्द्र का अर्थ सूर्य और वायु है। शतपथ ११।६।३।९ के अनुसार विद्युत् का नाम इन्द्र है। पुनः शतपथ २।३।१।७ में परमेश्वर को इन्द्र कहा गया है। इसी प्रकार इन्द्र देवता के विविध अर्थ ब्राह्मणों में प्राप्त हैं। ‘रुद्र’ के विषय में शतपथ ५।३।१।१० में कहा गया है कि वह अग्नि है। पुनः शतपथ ६।१।३।३८ में इसे अग्नि मान कर इसके आठ रूप गिनाये गये हैं—जो बहुधा साधारण रूप से रुद्र के नामों में प्रयुक्त किये जाते हैं। वे ८ रूप हैं—रुद्र, शर्व, पशुपति, उग्र, अशनि, भव, महान्देव और ईशान। नवों रूप कुमार है। शतपथ १।७।३।८ में पुनः इसे स्पष्ट करते हुए बतलाया गया है कि यह रुद्र देव अग्नि ही है और इसके यह शर्व आदि नाम हैं। ‘शर्व’ ऐसे नाम से इसे पूर्व के लोग और ‘भव’ नाम से वाहीक लोग पुकारते हैं। वस्तुतः रुद्र पशुपति है और वह अग्नि है। जब इसे बहुवचन में प्रयोग किया जाता है तो इससे १० प्राण और ११ वीं आत्मा गृहीत होता है। शतपथ ब्राह्मण ११।६।३।७ में यह वर्णन समुपलब्ध होता है। रुद्रनाम से महान् देव परमात्म शक्ति का भी ब्राह्मण ग्रन्थों में उल्लेख है। अग्नि का अर्थ ब्राह्मण ग्रन्थों में देते हुए लिखते हैं कि यह सृष्टि की रचना में सर्व प्रथम उत्पन्न की गयी अतः “अग्नि” होने से इसे अग्नि कहा जाता है। शतपथ ६।१।१।११—इसके लिए प्रमाणरूप में देखा जा सकता है। शतपथ ९।४।२।२५ में—धर्म, अर्क, शुक्र, ज्योति और सूर्य से अग्नि का बोध होता है। ऋजुर्वेद १८।५० में ये सारे नाम एक ही मंत्र में आये हैं। शतपथ ६।७।१।२० और १।३।३।१९ में क्रमशः आत्मा और ब्रह्म को अग्नि

कहा गया है। ब्राह्मण-ग्रन्थों में शतशः स्थलों पर अग्नि के भिन्न भिन्न अर्थ और उसके कार्य तथा गुण बताये गये हैं, जिनके पढ़ने से ज्ञान की अच्छी अभिवृद्धि हो सकती है। ब्राह्मणों में (गोपथ ७० ६।१४) आदित्य सूर्य कहा गया है, ये १२ हैं। बहुवचन में इनसे १२ मासों का ग्रहण होता है। अदिति के पुत्र आदित्य आठ हैं—इनका वर्णन ऋग्वेद १०।७२ सूक्त में मिलता है और शतपथ ३१।३३ में मिलता है। इस दृष्टि से अदिति प्रकृति है और उसकी सात प्रकृति-विकृतियों और आठवाँ जगत् का पिण्ड-भूत सूर्य है। मित्र, वरुण, अंश, भग, इन्द्र और विवस्वान् और अर्यमा ये सप्त अदिति के पुत्र-विकार हैं और आठवाँ विकार “मार्तेण्ड” है। इस प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थों में देवों का वर्णन मिलता है। यदि इनके आधार पर वेदों के देवों का निर्णय करके वेद की शिक्षा दी जावे तो इस दिशा में अच्छी सफलता मिल सकती है।

इसी प्रकार दूसरी वस्तु निरुक्त और ब्राह्मण-ग्रन्थों से मिलती है—यौगिक-प्रक्रिया की है। इनके अनुसार वेद के सभी शब्द यौगिक हैं। इस यौगिकता का परिज्ञान हो जाने पर मन्त्रों का अर्थ समझने में अत्यन्त सरलता हो जाती है और अर्थ भी अच्छे से अच्छा भासित होने लगता है। वेद के शब्द यौगिक हैं इसका वेद से ही शब्दों का विचार करने पर स्पष्ट ज्ञान हो जाता है। वेदों में एक ही शब्द विशेषण और विशेष्य दोनों रूप में प्रयुक्त है। एक ही स्थल पर दो बार एक ही शब्द का प्रयोग बिना ऐसे माने संभव नहीं। नीचे की तालिका से यह बात स्पष्ट हो जावेगी।—

महीमवनिम्—	ऋ०	४।१९।६
उर्वी पृथ्वी—	ऋ०	१।१८।५।७
उर्वी पृथ्वी—	ऋ०	६।७।१

अत्ति भूमिं पृथिवीम्—	ऋ०	५।८५।४
भूमिं पृथिवीम्—	ऋ०	१२।१।७
यथेयं पृथिवी मही दाधार	ऋ०	१०।६०।९
शुक्राय भानवे—	ऋ०	७।४।१
सूर्यस्य हरितः—	ऋ०	५।२९।५
इन्द्रं मघवानम्—	ऋ०	७।२८।५
तोकाय तनयाय—	ऋ०	६।१।१२
आ मही रोदसी—	ऋ०	९।४।१।५
मही अपारे रजसी—	ऋ०	९।६८।३
अश्वं न वाजिनम्—	ऋ०	७।७।१
अत्यं न सप्तिम्—	ऋ०	३।२२।१
तरसे वलाय—	ऋ०	३।१८।३
अत्यं न वाजिनम्—	ऋ०	१।१२९।२

निरुक्त में लिए गए वैदिक शब्द ब्राह्मण ग्रन्थों में वैसे ही सामानार्थक देखे जाते हैं। निरुक्त का आधार ब्राह्मणग्रन्थ मालूम पड़ते हैं। नीचे की शब्दसूची इस पर प्रकाश डालेगी—

पता	निघण्टु	ब्राह्मण	पता
१।१४	अत्यः अश्व	अत्योऽसि (अश्व)	तैत्तिरीय ३।८।९।१
३।१७	अध्वरः यज्ञ	अध्वरो वै यज्ञः	शतपथ १।४।१।३८
१।१२	अन्नम् उदक	अन्नं वाऽऽपः	शतपथ ५।३।५।१७
२।७	अर्क अन्न	अन्नमर्कः	” १।१।१।४
३।४	अस्तम् गृह	गृहा वाऽस्तम्	” २।५।२।२९
२।११	अदितिः गौ	अदितिर्हि गौः	” २।३।४।३४
१।१	अदितिः पृथिवी	इयं वै पृथिव्यदितिः	” १।१।४।५

वर्तमान संस्कृत-शिक्षा और वेदों का अध्ययनाध्यापन

११११	अदितिः वाक्	वाग्वा अदितिः	„	६५।२।२०
१११०	अद्रिः मेघ	गिरिर्वाऽद्रिः	„	७५।२।१७
११३	अमृतम् हिरण्य	अमृतं वै हिरण्यम्	„	९।४।४।५
२।७	आयुः अन्न	अन्नम् वाऽयुः	„	९।२।३।१६
२।७	इषम् अन्न	अन्नं वा इषम्	कौषीतकी	२८।५
२।७	इडा अन्न	अन्नं वा इडा	ऐत्तरेय	८।२६
१११	इडा पृथिवी	इयं (पृथिवी) इडा	कौषीतकी	९।२
२।११	इडा गौ	गौर्वा इडा	शतपथ	३।३।१।४
२।७	ऊर्कः अन्न	अन्नं वा ऊर्कः	„	३।२।१।३३
३।६	कम् सुख	सुखं वै कम्	गोपथ उ०	६।३
१।२	चन्द्रम् हिरण्य	चन्द्रं हिरण्यम्	तैत्तिरीय	१।७।६।३
२।३	जन्तवः मनुष्य	मनुष्या वै जन्तवः	शतपथ	७।३।१।३२
३।४	दुर्या गृह	गृहा वै दुर्याः	„	१।१।२।२२
११११	धेनुः वाक्	वाग्वै धेनुः	ताण्ड्य	१८।९।२१
२।७	नमः अन्न	अन्नं नमः	शतपथ	६।३।१।१७
२।१०	नृम्णम् धन	नृम्णानि धनानि	„	१४।२।२।३०
३।१७	प्रजापतिः यज्ञ	यज्ञः प्रजापतिः	„	११।६।३।९
१।१२	रेतः उदक	आपो हि रेतः	ताण्ड्य	८।७।९
३।१७	विष्णुः यज्ञः	विष्णुर्वै यज्ञः	ऐत्तरेय	१।१५
२।९	शवः बल	बलं वै शवः	शतपथ	७।३।१।२९

इस तालिका में दिखलाये गये शब्द निघण्टु में जो निरुक्त का संग्रह भाग है और ब्राह्मण ग्रन्थों में ज्यों के त्यों पाये जाते हैं। यदि इस प्रकार की प्रक्रिया विद्यार्थी को मालूम हो जावे तो वह दृढ़ता और सन्तोष के साथ वेदों के अध्ययन में अग्रसर हो सके। इसके अभाव में वेद-मंत्रों को पढ़ते समय जब उसकी दृष्टि असंघटनीय अर्थों की ओर जा पड़ती है

तो उसे इनके पढ़ने की इच्छा ही नहीं होती। इस अरुचि से उसका उत्साह मारा जाता है। यद्यपि इस दिशा में अब जो पाठ्यक्रम बनाया गया है वह प्रशस्त है परन्तु उसके पढ़ाने और पढ़ने की दृष्टि भी वैसी ही होनी चाहिए। निरुक्त और ब्राह्मण ग्रन्थों का अध्ययन पूर्व लिखी दृष्टियों से वेदाध्ययन के लिये अत्यन्त आवश्यक है। व्याकरण का परिज्ञान प्रकृतिप्रत्यय आदि को समझने भर का तो अवश्य ही होना चाहिए। साथ ही प्रातिशाख्य का ज्ञान जरूरी है। यजुर्वेद १३।५७ में “विश्वामित्र” पद आया है। पाणिनीय अष्टाध्यायी ६।३।१३० से यह शब्द पाणिनीय व्याकरणानुसार वर्तमान टीकाकारों की दृष्टि से तब सिद्ध होता है जब इसे विश्वामित्र के रूढ़ अर्थ में ले लिया जावे। विश्व का मित्र विश्वामित्र है—इस अर्थ में यह व्याकरण-पूत्र सहायक नहीं है। परन्तु वेद में विश्वामित्र इसी सर्वमित्र के अर्थ में ही आया है। ऐ० ६।२० में कहा गया है कि विश्व का मित्र विश्वामित्र और इसका सार विश्वमित्र है। इस अर्थ को देने के लिये यजुः प्रातिशाख्य में “नरहामित्रेषुच” सूत्र पढ़ा गया। इसका अर्थ है कि ‘नर, हा, और मित्र’ शब्द बाद में हों तो विश्व शब्द को दीर्घ आदेश होता है। अष्टाध्यायी के पूर्वोक्त सूत्र से जो भाव नहीं सिद्ध होता था वह प्रातिशाख्य ने सिद्ध किया। इसलिये प्रातिशाख्यों का अध्ययन भी ऐसी दृष्टियों से उपयोगी है। स्वरों के ज्ञान के विषय में भी प्रातिशाख्यों का ज्ञान उपयोगी है।

इन सब बातों के अतिरिक्त वैदिक साहित्य के विषय में छात्रों की अनुसंधान की प्रवृत्ति बढ़ानी चाहिए। इस प्रवृत्ति का अध्यापक और अध्ययनार्थी दोनों में अभाव सा ही देखा गया है। यह कार्य केवल ग्रन्थों के अर्थ विद्यार्थियों के सामने कर देने से नहीं सम्पन्न होगा। इसमें घोर अध्ययन और खोज की आवश्यकता है। जिन ब्राह्मण-ग्रन्थों से वेदार्थ खुलता है उनकी संख्या का भी पता कुछ थोड़े ही लोग रखते हैं। लुप्त

ब्राह्मणग्रन्थों की तो बात ही क्या ! अब काण्व-शाखीय शतपथ ब्राह्मण और जैमिनीय ब्राह्मण प्रकाशित हो चुके हैं। चरक ब्राह्मण, अग्निसोमी ब्राह्मण, श्वेताश्वर ब्राह्मण, काठक ब्राह्मण, मैत्रायणी ब्राह्मण, भाल्लवि ब्राह्मण, जाबाल ब्राह्मण, पैङ्गी ब्राह्मण, शाट्यायन ब्राह्मण, कंकति ब्राह्मण, सौलभ ब्राह्मण, कालबवि ब्राह्मण, शैलालि ब्राह्मण, रौरुकि ब्राह्मण, खाण्डिकेय ब्राह्मण, औखेय, हारिद्रविक, तुम्बरू और आरुणेय ब्राह्मणों का ग्रन्थों में वर्णन मिलता है परन्तु हैं ये अप्राप्य। ऐसे ही बहुत सा वैदिक-साहित्य अप्राप्य है। यदि इधर अनुसंधान की प्रवृत्ति हो जावे तो संदेह नहीं कि कितने ग्रन्थ-रत्न प्राप्त हो जावेंगे। इसलिए अनुसंधानीय वृत्ति पैदा करना भी परमावश्यक कार्य है।



संस्कृत-साहित्य में ग्रन्थ-निर्माण-प्रवृत्ति

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् से अब तक उत्तरप्रदेशीय शिक्षा विभाग की ओर से संस्कृत के अध्ययन में प्रगति लाने का स्तुत्य प्रयत्न हो रहा है । यदि समस्त भारत में ऐसा ही प्रयत्न हो तो संस्कृत का अभ्युत्थान बहुत शीघ्र हो सके । संस्कृत के अध्ययन को प्रोत्साहित करने में जहाँ शिक्षापटल के सर्वांगीण मनोज्ञ बनाने की आवश्यकता है, वहाँ संस्कृत-साहित्य के अनुसंधान और आर्यवाङ्मय के लुप्त ग्रंथों को भी प्रकाश में लाने की बड़ी आवश्यकता है । इस साहित्य में अनेक ऐसे ग्रन्थ लुप्त पड़े हैं जिनके प्रकाश में आने से देश और समाज का महान् कल्याण हो सकता है । संस्कृत के स्नातकों में ग्रन्थप्रणयन और प्राचीन संस्कृतवाङ्मय के अध्ययन की अभिरुचि उत्पन्न की जानी चाहिए । इससे प्राच्यविद्या-प्रतिष्ठानों में अनुसंधान की प्रगति बढ़ जावेगी । निर्देशरूप में थोड़ा सा इंगित यहाँ पर संस्कृत साहित्य में हुई ग्रन्थ-प्रणयन-प्रवृत्ति की ओर किया जाता है । इससे जहाँ मुख्य विषय का अभिज्ञान होगा वहाँ यह भी पता चलेगा कि कितने विद्या के आकर ग्रन्थ अभी तक प्रकाश में नहीं आये और काल के कराल गाल में पड़े हुए हैं ।

यह तो अविवादास्पद और अत्यन्त प्रसिद्ध ही है कि समस्त भाषाओं

को अपेक्षा संस्कृत-भाषा का साहित्य अत्यन्त प्राचीन है। इसमें विविध विज्ञानों और विद्यांगों के ग्रन्थ पाये जाते हैं। इसमें भी सन्देह नहीं कि संस्कृत के विशाल साहित्य में ग्रन्थरचना की प्रवृत्ति कब हुई? इसके इतिहास पर विचार किया जावे तो यह ग्रन्थप्रणयन-कला के विश्व में सर्वप्रथम सूत्रपात का अन्वेषण होगा। ग्रन्थों का प्रणयन कब प्रारंभ हुआ? इसकी गवेषणा वस्तुतः एक महत्त्व का विषय है। कोई साहित्य विना इसके इतना अधिक विशाल और विस्तारकाय नहीं बन सकता। आर्यजाति में वेदों का बड़ा सम्मान है। इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि विश्व के साहित्य में वेदों का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। यदि कोई भी विचारक मानव-परम्परा और संस्कृति की अचल प्रवृत्ति का अध्ययन करना चाहें तो उसे वेद से संपर्क अवश्य स्थापित करना पड़ेगा। क्योंकि इससे प्राचीन ग्रन्थ विश्व के महान् ग्रन्थागार में और कोई भी नहीं पाया जाता है। ऐतिहासिक दृष्टि से इन पर विचार करनेवाले लोग इसे ईसा से चार-पाँच सहस्र वर्ष से अधिक प्राचीन काल का नहीं मानते। परन्तु उन्हीं में अब ऐसे विचारक भी उपस्थित हैं जो इनकी रचना को १८ सहस्र वर्ष पूर्व की मानते हैं। इन वेदों को ईश्वरीय और अपौरुषेय मानने वालों का तो कहना ही क्या? इनकी दृष्टि से तो वेद बहुत प्राचीन ठहरते हैं। ऋग्वेद ७।१०३।३५ में वर्षा में दरे दरे की ध्वनि निकालने वाले मण्डूकों की स्वभावोक्ति से अध्ययनाध्यापन की परम्परा का मनोज्ञ वर्णन करते हुए बतलाया गया है कि एक मढक दूसरे मढक की बोली को उसी प्रकार दुहराता है, जिस प्रकार शिष्य गुरु अथवा अध्यापक के वचन को दुहराता है। इस स्वाभावोक्ति के अनुसार पूर्वकाल में आर्यों में अध्ययनाध्यापन होता रहा। लोग अध्ययनाध्यापन कराने में पुस्तकों की सहायता इस प्रकार लेना आवश्यक नहीं समझते थे जैसा कि आजकल

संस्कृत-साहित्य में ग्रन्थ-निर्माण-प्रवृत्ति

रूतत्रता प्राप्ति के पश्चात् से अब तक उत्तरप्रदेशीय शिक्षा विभाग की ओर से संस्कृत के अध्ययन में प्रगति लाने का स्तुत्य प्रयत्न हो रहा है । यदि समस्त भारत में ऐसा ही प्रयत्न हो तो संस्कृत का अभ्युत्थान बहुत शीघ्र हो सके । संस्कृत के अध्ययन को प्रोत्साहित करने में जहाँ शिक्षापटल के सर्वांगीण मनोज्ञ बनाने की आवश्यकता है, वहाँ संस्कृत-साहित्य के अनुसंधान और आर्यवाङ्मय के लुप्त ग्रंथों को भी प्रकाश में लाने की बड़ी आवश्यकता है । इस साहित्य में अनेक ऐसे ग्रन्थ लुप्त पड़े हैं जिनके प्रकाश में आने से देश और समाज का महान् कल्याण हो सकता है । संस्कृत के स्नातकों में ग्रन्थप्रणयन और प्राचीन संस्कृतवाङ्मय के अध्ययन की अभिरुचि उत्पन्न की जानी चाहिए । इससे प्राच्यविद्या-प्रतिष्ठानों में अनुसंधान की प्रगति बढ़ जावेगी । निर्देशरूप में थोड़ा सा इंगित यहाँ पर संस्कृत साहित्य में हुई ग्रन्थ-प्रणयन-प्रवृत्ति की ओर किया जाता है । इससे जहाँ मुख्य विषय का अभिज्ञान होगा वहाँ यह भी पता चलेगा कि कितने विद्या के आकर ग्रन्थ अभी तक प्रकाश में नहीं आये और काल के कराल गाल में पड़े हुए हैं ।

यह तो अविवादास्पद और अत्यन्त प्रसिद्ध ही है कि समस्त भाषाओं

को अपेक्षा संस्कृत-भाषा का साहित्य अत्यन्त प्राचीन है। इसमें विविध विज्ञानों और विद्याओं के ग्रन्थ पाये जाते हैं। इसमें भी सन्देह नहीं कि संस्कृत के विशाल साहित्य में ग्रन्थरचना की प्रवृत्ति कब हुई ? इसके इतिहास पर विचार किया जावे तो यह ग्रन्थप्रणयन-कला के विश्व में सर्वप्रथम सूत्रपात का अन्वेषण होगा। ग्रन्थों का प्रणयन कब प्रारंभ हुआ ? इसकी गवेषणा वस्तुतः एक महत्त्व का विषय है। कोई साहित्य विना इसके इतना अधिक विशाल और विस्तारकाय नहीं बन सकता। आर्यजाति में वेदों का बड़ा सम्मान है। इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि विश्व के साहित्य में वेदों का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। यदि कोई भी विचारक मानव-परम्परा और संस्कृति की अचल प्रवृत्ति का अध्ययन करना चाहें तो उसे वेद से संपर्क अवश्य स्थापित करना पड़ेगा। क्योंकि इससे प्राचीन ग्रन्थ विश्व के महान् ग्रन्थागार में और कोई भी नहीं पाया जाता है। ऐतिहासिक दृष्टि से इन पर विचार करनेवाले लोग इसे ईसा से चार-पाँच सहस्र वर्ष से अधिक प्राचीन काल का नहीं मानते। परन्तु उन्हीं में अब ऐसे विचारक भी उपस्थित हैं जो इनकी रचना को १८ सहस्र वर्ष पूर्व की मानते हैं। इन वेदों को ईश्वरीय और अपौरुषेय मानने वालों का तो कहना ही क्या ? इनकी दृष्टि से तो वेद बहुत प्राचीन ठहरते हैं। ऋग्वेद ७।१०३।३५ में वर्षा में टरे टरे की ध्वनि निकालने वाले मण्डूकों की स्वभावोक्ति से अध्ययनाध्यापन की परम्परा का मनोह्र वर्णन करते हुए बतलाया गया है कि एक मंडक दूसरे मंडक की बोली को उसी प्रकार दुहराता है, जिस प्रकार शिष्य गुरु अथवा अध्यापक के वचन को दुहराता है। इस स्वाभावोक्ति के अनुसार पूर्वकाल में आर्यों में अध्ययनाध्यापन होता रहा। लोग अध्ययनाध्यापन कराने में पुस्तकों की सहायता इस प्रकार लेना आवश्यक नहीं समझते थे जैसा कि आजकल

के समय में अध्ययनाध्यापन में उसकी आवश्यकता समझी जाती है। यह परम्परा भारत में बहुत प्राचीन समय से चली आयी है परन्तु सारा कार्य प्रवचन और श्रवण से ही हुआ करता था। मुद्रित पुस्तकों का प्रयोग इसमें नहीं होता था। अध्ययनाध्यापन के प्रसंग में गुरुजन वेद-वेदांगों सभी विषयों को विद्यार्थीवर्ग को कण्ठस्थ रखकर प्रवचन द्वारा सिखाते थे, और यहाँ तक इस प्रक्रिया को बर्ता कि सभी वेद-वेदांगों को कण्ठस्थ कर सुरक्षित रखा। वैदिकों की परम्परा आज भी इसी प्रकार की है। उनसे उल्टे-सीधे किसी प्रकार भी वेदमंत्रों को सुना जा सकता है। पुस्तकों के पाठ में तो त्रुटि हो सकती है परन्तु उनमें स्वर-मात्र तक की भी त्रुटि नहीं पायी जाती। प्राचीन वेदाध्यापक गुरुओं ने वेदों के अक्षर तक गिन डाले थे। शतपथ ब्राह्मण में हमें ऐसा ही उदाहरण मिलता है जहाँ पर ऋग्वेद के समस्त मंत्रों की अक्षर संख्या ४,३२,००० बतलाते हुए अन्यो की अक्षर संख्या भी दी गयी है। वेदों को श्रुति नाम दिये जाने का कारण भी यही है। क्योंकि ये गुरुशिष्य परम्परा से प्रवचनों द्वारा सुने सुनाये अब तक चले आ रहे हैं। श्रुति स्मृति का परस्पर भेद भी यही है कि श्रुति सुनी जाने वाली और स्मृति उनके अर्थों को स्मरण दिलाने वाली है। स्मृति शब्द यह बतलाता है कि इनके समय में लिखने और ग्रंथों के प्रणयन का पर्याप्त परिचलन रहा होगा। मनुष्य की स्मृतिशक्ति की न्यूनता को ध्यान में रखकर ग्रन्थ रचकर वेदों की परम्परा को अभिरक्षण रखने का प्रयत्न किया जाने लगा। आचार्य यास्क के निरुक्त में इस प्रकार का वर्णन मिलता है कि सबसे पूर्व ऋषि लोगों ने साक्षात्धर्मा होने से मंत्रों का साक्षात् किया और दूसरे साधारण मनुष्यों के लिए प्रवचन द्वारा दिया। उसके अनन्तर ऐसे लोग उत्पन्न हुए जिनके लिए केवल उपदेश पर्याप्त नहीं था। उन्होंने अपनी सुविधा के लिए ग्रन्थ-प्रणयन की परिपाटी का प्रारम्भ किया और वेद-वेदांगों को ग्रन्थबद्ध किया। पूर्वकाल में ग्रन्थ-

रचना की आवश्यकता नहीं पड़ी परन्तु स्मृति के लघु होने से पश्चात्-काल में इसकी आवश्यकता प्रतीत हुई। लोगों में सामर्थ्य और स्मरण-शक्ति का ज्यों ज्यों क्षय होने लगा त्यों त्यों ग्रन्थों के निर्माण की प्रवृत्ति बढ़ने लगी। इस समय में विद्याप्रवचन और ग्रन्थप्रणयन दोनों ही चलते रहे, यह बात उस समय के ग्रन्थों में प्रयुक्त 'समाम्नान' और 'समाम्नाय' पदों से प्रकट होती हैं। ऐसा भी प्रतीत होता है कि बहुत से संग्रह भी उस समय भारत में बन चुके होंगे। क्योंकि यास्कीय निघण्टु भी समाम्नाय शब्द से व्यवहृत किया गया है। संस्कृत-साहित्य में 'उक्त' 'प्रोक्त' और 'कृत' आदि पदों का अधिक व्यवहार मिलता है। उक्त और कृत में क्या विशेष अन्तर है, साधारणतया दृष्टिपथ में नहीं आता। किसी ने अमुक ग्रन्थ बनाया एवं अमुक ग्रन्थ कहा—इसमें आपातदृष्ट्या क्या भेद हो ही सकता है। परन्तु सूक्ष्मेक्षिका से भेद अवश्य है। व्याकरण-शास्त्र के निर्माता 'पाणिनि' ने अपनी अष्टाध्यायी ४।३।१०१ और ४।३।११६ में क्रमशः "तेन प्रोक्तम्" "कृते ग्रन्थे" इन दोनों सूत्रों से प्रयोग की भिन्नता प्रकट की है। इन दोनों सूत्रों से सिद्ध होने वाले, प्रयोगों में भी भेद दिखलाया गया है। यदि वास्तव में भेद न होता तो दोनों सूत्रों के द्वारा एक से प्रवचन अर्थ में और दूसरे से ग्रन्थ करने के अर्थ में अलग अलग प्रत्ययों का विधान करने की आवश्यकता ही क्या थी। इसलिए यही मन्तव्य है कि विद्या-प्रवचन और ग्रन्थ-प्रणयन में वास्तविक अन्तर है। विद्या के प्रवचन करने वाले को 'प्रोक्ता' और ग्रन्थ-निर्माण करने वाले को 'ग्रन्थ-कर्त्ता' कहा जाता था। भारत में प्रवचनकाल में आज-कल के विश्वविद्यालयों की भाँति केवल लेक्चर्स ही हुआ करते थे। अन्तर इतना ही था कि आजकल के लेक्चर किन्हीं लिखित ग्रन्थों के आधार पर हैं परन्तु उस समय यह आधार नहीं होता था। ग्रन्थ-रचना की प्रवृत्ति प्रवृद्ध हो चुकी थी फिर भी दो प्रकार का साहित्य संस्कृत में

उस काल में पाया जाता था । एक तो वह जिसका सम्बन्ध किसी व्यक्ति-विशेष से पाया जाता था—जैसे ऐतरेय ब्राह्मण आदि । दूसरा वह जिसका उसके कर्त्ता व्यक्तिविशेष से कोई सम्बन्ध नहीं था । इसके उदाहरण में विविध उपनिषद् और ब्राह्मण हैं । अनेक ग्रन्थ ऐसे भी हैं जिनका किसी व्यक्ति को कर्त्ता न कहकर प्रोक्ता ही कहा जाता था । व्यक्तिविशेष के ग्रन्थकर्त्ता होने पर भी वह ग्रन्थकर्त्ता न कहा जाकर प्रोक्ता ही कहा जाता था । यही कारण है कि 'याज्ञवल्क्यानि ब्राह्मणानि' इत्यादि संस्कृत प्रयोगों में 'कृते ग्रन्थे' के प्रत्यय न होकर प्रोक्तार्थक प्रत्यय होते हैं । 'पैंगी-कल्प' में पिंग का नाम लग्न हुआ है । परन्तु वह पिंग-कृत न माना जाकर पिंगप्रोक्त ही माना जाता था । यहाँ पर स्पष्ट प्रोक्तार्थक प्रत्यय है, ग्रन्थ कृतार्थक नहीं । ऐसा होने के प्रधान कारण 'चरण' थे । ये 'चरण' एक प्रकार के विद्यापीठ थे । गुरु लोग परम्परागत प्रणाली के अनुसार विद्या का प्रवचन करते थे और शिष्य यदि आवश्यकता पड़ी तो ग्रन्थों में उसे निबद्ध कर देते थे । इस प्रकार के रचे गये ग्रन्थों में चरण या परिषद बाद में भी परिवर्धन कर देती थीं । बहुत से ग्रन्थों में ऐसा देखा जाता है । धर्मसूत्रों, ऋक्प्रातिशाख्य और वाजसनेयि-प्रातिशाख्यों में ऐसे परिवर्द्धित अंश पाये जाते हैं । ग्रन्थों के इन परिवर्त्तनों और परिवर्धनों से यह भाव प्रकट होता है कि ग्रन्थ समय समय पर परिषदों द्वारा प्रतिसंस्कृत किये जाते थे । ये प्रतिसंस्कृत संस्करण कहे जा सकते हैं । प्राचीन काल के ग्रन्थ वृहदेवता आदि में उनके प्रसिद्ध ग्रन्थकारों के नाम ऐसे परोक्षरूप में कहे गये हैं कि जिससे यह ज्ञात होता है कि वे ग्रन्थकर्त्ता नहीं हैं । वृहदेवता ४।१३९ में उसके ग्रन्थकर्त्ता शौनक के शिष्य आश्रलायन का मत उद्धृत किया गया है । वेदान्तदर्शन में भी यही बात पायी जाती है । बोधायन-धर्मसूत्र में बोधायन के ही मत का उल्लेख देखकर टीकाकार को यह कल्पना करनी पड़ी कि बोधायन का शिष्य इसका ग्रन्थकर्त्ता है ।

परन्तु ऐसा होना कोई विरुद्ध बात नहीं। शिष्यों का भी मत देना आचार्यों की उदारता का बोधक है। केवल शिष्यों के मत व्यक्त करने में आचार्यों के ग्रन्थकर्तृत्व में कोई मतभेद नहीं आता। वेदान्त में जैमिने के मत का उल्लेख है। जैमिनि व्यास के शिष्य थे परन्तु इससे अथवा इस बात से कि वहाँ पर व्यास का मत भी स्वयं उद्धृत है, इस लिए जैमिने उसका कर्त्ता है—मानने योग्य नहीं। जहाँ किसी विषय में विप्रतिपत्तियाँ होती हों, वहाँ आचार्य अपना मत स्पष्टता के लिए स्वयं भी प्रकट कर देते थे। जैमिनीय मीमांसा में व्यास के मत का भी उल्लेख है परन्तु ग्रन्थरचना जैमिनि की ही है।

शाखा, चरण और परिषदों का संस्कृत-साहित्य में विशेष उल्लेख दृष्टिगोचर होता है। वेदों के अध्ययन और कर्मकाण्ड की दृष्टि से भिन्न भिन्न ऋषिकुलों ने अपने संप्रदाय बना लिये। इन्होंने अपनी धारणा के अनुसार मंत्रों के संग्रह कर उनके अर्थों को सुलभाने के प्रयत्न किये। इनकी दृष्टि से विचारित मंत्र-संग्रह शाखाएँ बन गयीं। इस प्रकार भिन्न भिन्न दृष्टिकोणों से मंत्रों के संग्रह अर्थ को दर्शाने में किये गये, जो ११२७ शाखाओं के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनमें उपलब्ध बहुत थोड़े हैं। इन्हीं के कारण से ब्राह्मण-ग्रन्थों में भी भेद हो गया। इन शाखाओं के अनुयायी 'चरण' शब्द से व्यवहृत होते थे। इन चरणों की जो विद्वत्परिषदें या सभायें होती थीं उन्हें परिषद् कहा जाता था। मानव-धर्मशास्त्र में धर्म के निर्णय के लिए, 'दशावरा' परिषदों का वर्णन मिलता है। त्र्यवरा परिषदें भी होती थीं। ये कर्म के विषय में संशय उठने पर जो निर्णय कर देती थीं, वही कर्तव्य हो जाता था। त्रविद्य, हेतुक, तर्की, नैरुक्त, धर्मपाठक, और प्रथम तीन आश्रम वाले—ये मिलकर दशावरा परिषद् कहाते थे। ऋग्वेदज्ञ, यजुर्वेदज्ञ और सामवेदज्ञ—ये मिलकर त्र्यवरा परिषद्, कहे जाते थे। निरुक्त १।१७ में सभी चरण की परिषदों का ऐसा मत है, यह

कहकर संहिता का लक्षण किया गया मिलता है। इस काल में प्रतिशाखाओं के नाम से जो व्याकरण बनें वे प्रातिशाख्य कहलाये। इनसे अपनी अपनी शाखाओं के ही नियमों पर प्रकाश पड़ता है। पाणिनीय व्याकरण किसी शाखा-विशेष का नहीं। उससे सभी वैदिक व्याकरणों का समन्वय होता है और वैदिक के अतिरिक्त लौकिक संस्कृत के नियम भी इसमें विस्तार से सूत्रबद्ध किये गये हैं। पाणिनि के समय में ग्रन्थ-रचना का सुसंस्कृत रूप में प्रचार हो चुका था। ग्रन्थप्रणयन के साथ साथ ग्रन्थ-कारों की छाप भी उनके ग्रन्थों पर लगने लगी। अनेकों ग्रन्थ लिखे जाने लगे और उनके शुद्ध-संस्करण तथा प्रतिसंस्करण भी हुए। आयुर्वेद की वर्तमान चरक-संहिता के सिद्धिस्थान १२ वें अध्याय में इन विषयों का स्पष्ट आभास मिलता है। एक सौ बीस अध्यायों वाली इस संहिता को आत्रेय ने महर्षि-द्वारा प्राप्त करके शिष्यों को पढ़ाया। इसका प्रतिसंस्करण चरक ने किया। चरक के ही सूत्रस्थान के प्रथम अध्याय में आयुर्वेद का यह ग्रन्थ अग्निवेश तक किस प्रकार आया—इसका इतिवृत्त भी दिया गया है। उससे इस विषय पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। इन्द्र तथा भरद्वाज ने अन्य ऋषियों को उपदेश किया तदन्तर पुनर्वसु ने अपने छः शिष्यों को पढ़ाया। मुनि के वचन को अग्निवेश, भेल, जातूकर्ण, पराशर, हारीत तथा चारपाणि ने ग्रहण किया। चूंकि उपदेश के अनन्तर मुनि की बुद्धि में कोई विशेष अन्तर अग्निवेश से ग्रन्थ के प्रति नहीं था—अतः अग्निवेश ही इसके प्रणेता हुए। तत्पश्चात् भेल आदि ने अपने अपने तंत्रों का निमाण किया और ऋषियों सहित आत्रेय को सुनाया। ऋषियों ने उसे सुनकर अपनी सम्मति प्रदान की कि यह तंत्र ठीक रूप से सूत्रित किया गया है। इसी प्रकार ग्रन्थों के प्रतिसंस्करण के भी अनेकों उदाहरण संस्कृतसाहित्य में मिलते हैं। वेद के उपरान्त उसके व्याख्यान-रूप में अथवा स्वतंत्र-विद्याओं के जो ग्रन्थ लिखे गये, उनमें वैदिक संस्कृत का भी

अश पाया जाता है। वेदों से चार उपवेद—आयुर्वेद, धनुर्वेद, गन्धर्ववेद और अथर्ववेद नाम से बनाये गये। इनका नाम विद्या और विज्ञान से सम्बद्ध होने के कारण उपवेद ही रखना इनके प्रणेताओं को उचित समझ पड़ा। छः अंग जो विशेष विज्ञान के अंग हैं ऋषियों ने बनाये। इनमें शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्दः और ज्योतिष हैं। इन विषयों के भी विविध ग्रन्थ इन ग्रन्थों के पूर्व लिखे जा चुके हैं। परन्तु आज वे काल-चक्र से समुपलब्ध नहीं। नैदानों के ग्रन्थ कुछ उपलब्ध भी हुए हैं—जो निदानसूत्र कहे जाते हैं। यास्क ने इनका स्मरण अपने ग्रन्थ में किया है। व्याकरण में पाणिनि और शाकटायन का ही व्याकरण मिलता है परन्तु पाणिनि ने—भरद्वाज, शाकटायन, स्फोटायन, शाकल्य तथा उत्तरापथ के वैयाकरणों के मतों का स्मरण किया है। इनके भी इस विषय पर ग्रन्थ थे परन्तु वे मिलते नहीं। शिक्षाएँ कई आचार्यों ने बनाई थीं। निरुक्त के भी १४ आचार्य हो चुके हैं। परन्तु आज उनके ग्रन्थ नहीं मिलते। ज्योतिष का भी यही हाल है। आर्यऋषि लोग अपने ग्रन्थों को सूत्रबद्ध अथवा श्लोकबद्ध लिखते थे। इसका कारण यह था कि वे सरलता से कण्ठस्थ किये जा सकें। कल्प, दर्शन और व्याकरण-ग्रन्थ सूत्र रूप में ही मिलते हैं। दर्शनों में सांख्य की प्रक्रिया अत्यन्त प्राचीन है। इस विषय के आदि विद्वान् महर्षि कपिल ने इस तंत्र को अपने परम शिष्य आसुरि को दिया। आसुरि ने पंचशिख को दिया और उसने विविध प्रकार से तंत्र का निर्माण किया। पंचशिख ने जनक, वसिष्ठ, हारीत, बाद्धलि, कैरात, पौरिक ऋषभेश्वर, पंचाधिकरण, पतंजलि, वार्षगण्य, कौण्डिन्य और मूकादि तक शिष्य-परम्परा से पहुँचाया। पंचशिख का पूरा ग्रन्थ उपलब्ध नहीं। कुछ सूत्र उद्धरणों में पाये जाते हैं। वार्षगण्य ने छः अध्यायों का एक षष्ठी-तंत्र नामक ग्रन्थ बनाया था जो अब नहीं मिलता। विज्ञान के क्षेत्र में भी भारतीय महर्षियों ने अनेक ग्रन्थ बनाये। व्याकरण

सिद्धांत-संरक्षणी

पर व्याडि का एक संग्रह ग्रन्थ था। इसका उद्धरण पंतजलि ने अपने भाष्य में दिया है—परन्तु वह प्राप्त नहीं। वेदान्तदर्शन पर बौद्धायनवृत्ति और सांख्य पर भगुरि का भी ग्रन्थ था—आज उसका पता नहीं चलता। भारत में एक समय ऐसा भी आया था जबकि संस्कृत के ग्रन्थों की रचना की एक बाढ़ सी आ गयी थी। कागज के अभाव में चाहे वे भूर्ज-पत्र और तालपत्र पर ही लिखे जाते थे—परन्तु बहुसंख्या में लिखे गये। अगस्त्य ने एक संहिता लिखी थी जिसमें पानी बनाने और विमान-निर्माण का विज्ञान था। अगस्त्य, ईश्वर, आश्रलायन, व्यास, भरद्वाज, पाराशर, सिंह-कोठर, अंगिरस, विसरण, वसिष्ठ, शाकटायन, जैमिनी, आपस्तम्ब, बौद्धायन, अत्रि, नारद और वाल्मीकि आदि विज्ञानाचार्यों ने क्रमशः— शक्ति, विद्युत्, धातु-शुद्धि, ब्रह्माण्ड, अंशुमत, छन्दः, लोकयात्रा, आयुर्वेद, यंत्रनिर्माण, लोहविज्ञान, धातुविज्ञान, अग्निविद्या, वायुविद्या, वाष्पविद्या और गणित आदि विषयों पर ग्रंथों का निर्माण किया था। ये ग्रन्थ मिलते नहीं परन्तु इनकी सूचियाँ संस्कृत के ग्रन्थों में, हस्तलेखों में पायी जाती हैं। काव्य-रचना रामायण और महाभारत तक ही पायी जाती है। प्राचीन काव्य रामायण और महाभारत ही मिलते हैं। स्मृतियाँ यद्यपि श्लोक-बद्ध बनी हैं फिर भी ये धर्मशास्त्र के ग्रन्थ हैं काव्य के नहीं।

वाल्मीकि मुनि आदि कवि कहे जाते हैं। इधर के बौद्ध, जैन और यवनकाल में भी संस्कृत के ग्रन्थों की रचना हुई। ये दो प्रकार की थीं— एक तो दार्शनिक और दूसरी साहित्यिक। दार्शनिक रचनाओं में कुछ टीका-प्रटीकायें थीं और कुछ स्वतंत्र ग्रन्थ। प्राचीन न्याय और बौद्ध न्याय पर परस्पर संघर्ष चलने पर बौद्ध के खण्डन और अपने मण्डन में कोई छोटे-मोटे 'वारह सौ' ग्रन्थ लिखे गये। ये अधिकांश गद्यात्मक हैं। बौद्धविद्वानों ने कई स्वतंत्र दार्शनिक ग्रन्थ लिखे। न्यायविन्दु, प्रमाणसमुच्चय, न्यायप्रवेश, माध्यमिक-कारिका आदि ग्रन्थ बौद्धदर्शन में प्रसिद्ध

संस्कृत-साहित्य में ग्रन्थ-निर्माण-प्रवृत्ति

स्थान रखते हैं। जैन विद्वानों ने भी कुछ एक ग्रन्थों का निर्माण किया जो उच्चस्तर के माने जाते हैं। साहित्य के ग्रन्थों में काव्य, लक्षण और गद्य-ग्रन्थ लिखे गये। कुछ चम्पू और भाण ग्रन्थों की भी रचना हुई। परन्तु गद्यात्मक साहित्य संस्कृत में अत्यन्त थोड़ा है। बाणभट्ट की कादम्बरी, श्रीहर्षचरित और दण्डी का दशकुमार चरित, शिवराज विजय, वरदा-म्भिक परिणय चम्पू के अतिरिक्त कोई गद्य-ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होते। भाषा के इतिहास अथवा राजवंशों के इतिहास के विषय में पुराणों, महाभारत, रामायण को छोड़कर केवल राजशेखर-कृत काव्यमीमांसा और राजतरंगिणी ही तक इति-सीमा है। नाटकों की रचना हुई परन्तु बहुत अधिक नहीं। भरतमुनि का नाट्यशास्त्र बहुत बड़ा लक्षण ग्रन्थ है। वैसे तो लक्षण कुछ कुछ साहित्यदर्पण और काव्यप्रकाश आदि में भी मिलते हैं। रतिविज्ञान पर वात्सायन का कामसूत्र ग्रन्थ एक अच्छी रचना है। ऐसे ही अर्थशास्त्र में कौटिल्य के अर्थशास्त्र का भी अपना अनोखा ही स्थान है। ग्रन्थ-रचना की प्रवृत्ति बढ़ने से लेकर आज उसके अवरोध तक संस्कृत-साहित्य में बहुत अधिक ग्रन्थ लिखे गये। इसका साहित्य-भाण्डार बहुत से विध्वंसक आक्रमणों का सामना करने पर भी अक्षय रहा। आज थोड़ा साहित्य उपलब्ध है परन्तु है अपने विशेष महत्त्व का। यदि लुप्त ग्रंथों पर दृष्टि डाली जावे तो विदित होगा कि यह साहित्य-भाण्डार कितने ग्रन्थ-रत्ना से परिपूर्ण था। इसमें सन्देह नहीं कि संस्कृत-साहित्य की ग्रन्थ-रचना प्रवृत्तियों से ही संसार में ग्रन्थ-प्रणयन की परम्परा चली होगी। कुछ अमूल्य ग्रन्थों का निदर्शन हमें पुराणों आदि में मिलता है—जो अत्यन्त उपयोगी और अन्वेषणीय है। संस्कृत-साहित्य में विद्यायें १४ एवं १८ और कलायें ६४ मानी जाती हैं। इनका विस्तार समय समय पर होता रहा—अनेकों ग्रन्थ इन पर रचे गये। इनके अतिरिक्त सात सिद्धान्त माने जाते थे—वे हैं—पंचरात्र, कपिल, अपान्तरतमा, वसिष्ठ, पाशुपत,

शिक्षण-तरङ्गिणी

हैरण्यगर्भ, और शैव-सिद्धान्त। योगी याज्ञवल्क्य नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ में इनका उल्लेख किया गया है। इस ग्रन्थ के प्रमाण वाचस्पति मिश्र (संवत् ८१८) के ग्रन्थों में उद्धृत मिलते हैं। इसी प्रकार तीन सौ शास्त्र सत्तर तन्त्रों का भी महाभारत शान्तिपर्व १२२ वें अध्याय में वर्णन पाया जाता है। ये सब माहेश्वर के द्वारा विद्याओं के वर्णन में कहे गये हैं। लोकायत-शास्त्र बहुत प्रसिद्ध हैं। इसका वर्णन महाभारत आरण्यक पर्व १५९।१, कौटिल्य अर्थशास्त्र, वात्सायन-कामसूत्र १।२।२८ में मिलता है। इस मत का उल्लेख सर्वदर्शन-संग्रह और बौद्ध आचार्य शान्तिरक्षित-रचित तत्त्वसंग्रह की कारिका २९, ४५ की टीका में मिलता है। चीनी यात्री ह्वेनसाँग से एक लोकायत ब्राह्मण का संपर्क भी हुआ था। षड्दर्शनसमुच्चय में हरिभद्र सूरि ने उस शास्त्र का संक्षेप दिया है। इस सिद्धान्त के प्रधान आचार्य बृहस्पति थे। क्षीरस्वामी ने चारवाक को नामलिङ्गानुशासन की टीका २।७।६ में लोकायत मत से भिन्न माना है। लोकायत-शास्त्र के रचयिता के विषय में कौटिलीय अर्थशास्त्र की टीका में लिखा है कि ब्रह्मा और गार्ग्य ही इसके रचयिता थे। धनुर्वेद-विषयक ग्रन्थ औशनस, भरद्वाज और जमदग्नि ने रचे थे। उल्हण ने सुश्रुत की टीका में चिकित्सा-स्थान, अध्याय १२ में लिखा है कि जमदग्नि ने रथचर्या और पदातिचर्या के विषय में उपदेश किया था। व्यूहशास्त्र, रथसूत्र, और अश्वसूत्र का महाभारत भीष्मपर्व ८३।२०; सभापर्व ५।११० तथा सभापर्व ५।१०९ में क्रमशः उल्लेख है। नकुलप्रणीत अश्वशास्त्र मिलता भी है। वायु-पुराण २१।७।२०-१२ में यह उल्लिखित पाया जाता है। अश्वचिकित्सा के विषय का शालिहोत्र ग्रन्थ था। इसका संक्षिप्त अनुवाद ही पर्शियन का 'कुरेतुलमुल्क' ग्रन्थ माना जाता है। हस्तिसूत्र लोमपाद का बनाया हुआ था। लोमपाद अंगदेश के राजा थे। मत्स्यपुराण ३४।२ में यह उल्लेख है। हस्त्यायुर्वेद नामक पालकाप्य मुनि का ग्रन्थ है—यह संप्रति उपलब्ध है। ब्रह्मा के

द्वारा निर्मित महान् आयुर्वेद ग्रन्थ में से महामुनि ने इस ग्रन्थ का विभाग किया। यंत्रसूत्र ग्रन्थ की रचना भगवान् स्वायम्भव मनु ने की थी। विश्वकर्मा-द्वारा रचित यंत्रमालिका ग्रन्थ का कामसूत्र १।३ की जयमंगला टीका में निर्देश है। विदेहराज ने वाग्ज्य-शास्त्र की रचना की थी। श्री वैद्य गयदास ने गन्ध-शास्त्र के अनुसार ग्रन्थ-रचना की थी। विक्रम संवत् ८८७ में लिखे गये हरमेखमाला नामी प्राकृतग्रन्थ में माहुक ने भी गन्ध-शास्त्र का उल्लेख किया है। पराशर और वृद्धप द्वारा कृषिशास्त्र की रचना हुई थी। इसमें कृषि का विज्ञान वर्णित था। इसी प्रकार एक ग्रन्थ सस्य-वेद नाम से भी प्रसिद्ध था। गौतम मुनि का पशुपालन शास्त्र भी था। मत्स्यपुराण में गो आयुर्वेद चिकित्सक का वर्णन भी देखा जाता है। वृक्ष आयुर्वेद की रचना अग्निवेश मुनि द्वारा हुई थी। तत्त्वाशास्त्र और मल्लशास्त्रों के भी प्रमाण संस्कृत वाङ्मय में प्राप्त होते हैं। वास्तुशास्त्र के भृगु, अत्रि, वसिष्ठ, विश्वकर्मा, मय, नारद, नम्रजित्, विशालाक्ष, पुरन्दर, ब्रह्मा, कुमार, नन्दीश, शौनक, गर्ग, वसुदेव, अनिरुद्ध, शुक्र, बृहस्पति—ये १८ आचार्य प्रसिद्ध हैं। इन सबके ग्रन्थ उपलब्ध नहीं। विश्वकर्मा का विकलित ग्रन्थ पाया जाता है। मय का भी मयमत मुद्रित हो चुका है। इन्द्र ने व्याकरण-शास्त्र, आयुर्वेदशास्त्र, अर्थशास्त्र और वास्तुशास्त्र का प्रणयन किया था। नन्दीश ने भी रतिविषयक कामसूत्र और वास्तुशास्त्र रचे थे। लिपिशास्त्र भी पहले कोई विद्यमान था। महाभारत सभापर्व ५।६२ में सब देशों की लिपियों को जानने वाले लेखकों का वर्णन है। माप के लिए मानशास्त्र; धातुज्ञान के लिए धातुशास्त्र; हीरकसूत्र; और अदृष्टशास्त्र आदि विषय के भी ग्रन्थ किसी समय भारत में विद्यमान थे। शिल्पशास्त्र रचना भृगु ने की थी। पाकविद्या पर नल का पूरा अधिकार था। नल के द्वारा कोई पाकविद्या पर ग्रन्थ भी था—ऐसा आयुर्वेद के ग्रन्थ सुश्रुत के सूत्र-स्थान ४६।४४८-५६ से विदित होता है। वायसविद्या और सर्पविद्या के

वर्णन भी मिलते हैं। नारद ने सनत्कुमार से यह बतलाया था कि वे अन्य विद्याओं के अतिरिक्त सर्पविद्या भी जानते थे। अधिक तो क्या आचार्य खर्पटक का चौरशास्त्र तक प्रसिद्ध है। मृच्छकटिक में ऐसे विषय का उल्लेख भी मिलता है। नरेन्द्रसौप्तिक के बध के लिए द्रौणी ने सेंध काटने के मार्ग का अवलम्बन किया था। शत्रु राजाओं के बध आदि में ये युक्तियाँ लोग बर्तते रहे—ऐसा ज्ञात होता है। परन्तु राज्य में चौरकर्म पाप, अपराध और निषिद्ध, दण्डार्ह, गर्ह्य कर्म माना जाता था। इस प्रकार संस्कृत-साहित्य में खोज का विस्तृत क्षेत्र खाली पड़ा है। यदि हमारे भावी अनुसंधानों से ये तथा इस तरह के अन्य विद्या-ग्रन्थ उपलब्ध हो जावें तो जगत् का महान् उपकार हो। संस्कृत का भाण्डार भी भर जावे। संस्कृत की उन्नति करने के लिए इस दिशा में पग उठाना अत्यन्त आवश्यक है। हमारे संस्कृतस्नातकों से हमें यह आशा रखनी चाहिए कि वे इस कार्य को पूरा करेंगे।



गणित-विज्ञान

कोई भी विचार जो कि निश्चित रूप से और पूर्णतया विशेष निर्देश की संख्याओं द्वारा अथवा दूसरे शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है कि मूलभूत नियमों (Elements) की निश्चित संख्याओं को नियत करके निर्धारित है, वह गणित सम्बन्धी विचार (Mathematical Conception) कहलाता है। इसके उदाहरण के रूप में हम एक त्रिकोण (Triangle) को, देश में इसकी स्थिति के सम्बन्ध का विचार न रखते हुए, ग्रहण कर सकते हैं। यह गणित के दृष्टिकोण से तब विचारित अथवा निर्धारित माना जाता है जब कि इसके तीन तत्त्व विशेष रूप से निर्दिष्ट हो जाते हैं। वे तत्त्वत्रय इसके तीन भुज (sides) हैं। इसी प्रसंग में हम प्रकारान्तर से एक रंगविषयक अनुभूति को ले सकते हैं, जो कि महाशय थंग के वादानुसार उस समय विचारित समझी जाती है, जब उसके अन्दर विद्यमान तीन मौलिक रंगों की अनुभूतियों की मात्राएँ वर्णित कोटि में आ जाती हैं। यह तो गणित-सम्बन्धी विचार का उदाहरण है। इसके विपरीत संसार में ऐसे भी पदार्थ पाये जाते हैं जिनमें गणित-सम्बन्धी विचार का सहसा उद्भव नहीं होता। मनुष्य और खान से निकले हुए लोहे को ले लीजिए। इसे देखकर किसी को भी यह विचार नहीं हो सकता है कि यह विशेष निर्देश की एक निश्चित संख्या द्वारा इस

शिक्षण-तरङ्गिणी

प्रकार निर्धारित है जिससे ज्ञात हो सके कि इसकी सारी सामग्रियाँ तथ्यतः गणित-सम्बन्धी परिभाषा से प्राप्त हुई हैं। गणित-सम्बन्धी विचार अपने सहज स्वभाव से ही सामान्यतः प्रमाणीभूत हैं। इसकी प्रामाणिकता प्रायः तार्किकों की प्रामाणिकता की अपेक्षा अधिक नियमबद्ध है। इसी-लिए जब हम उदाहरण के रूप में गणित की दृष्टि से संघातों (solids) पर विचार करते हैं तो केवल आकारों को ही विचार का विषय बनाते हैं, उनके दूसरे गुणों को छोड़ देते हैं। इस प्रकार हम आकार के निश्चित और सर्वमान्य विचार पर पहुँच जाते हैं। लेकिन यह तभी होता है जब संघात का आकार विशेष निर्देश से निर्धारित है। एक बेढंगे और बेडौल पत्थर के टुकड़े को निश्चित रूप से निर्धारित नहीं कहा जा सकता और इसीलिए वह गणित-सम्बन्धी व्यवहारों में नहीं आ सकता। अगर हम किसी प्रकार उसी टुकड़े को एक चौकोर या समचतुर्भुज (square) घन पदार्थ की आकृति दे दें तो उस परिस्थिति में वही गणित-सम्बन्धी कार्यों के लिए उपयुक्त हो जाता है। क्योंकि इस विशेष वर्णन से कि वह एक घन है और उसमें एक नियम विद्यमान है, उसका आकार गणित के व्यवहार में लाने के लिए विशेष रूप से निर्दिष्ट हो जाता है। उसका घन होना ही एक ऐसे नियम का द्योतक है जो सामान्य-गणित-सम्बन्धी घन का एक वह किनारा है, जिससे उस संघात को स्थिति के लिए स्थान मिलता है। इसमें सन्देह नहीं कि अब यह तत्काल गणित-सम्बन्धी तर्क की सीमाओं और उसके व्यवहार में आने के स्वभाव को प्रदर्शित करने लगता है। इस प्रकार यह निश्चित अभिसन्धि है कि गणित का व्यवहार उसी वस्तु में होता है जिसमें आकार को देखते ही तत्सम्बन्धी विचारों का उद्भव हो जाता है। यह गणित विज्ञान अन्य विज्ञानों में अपना एक विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इसके प्रयोगात्मक व्यवहार बहुधा अन्य अधिकांश विज्ञानों में पाये जाते हैं। विभिन्न विज्ञानों के विकास में इसका

बड़ा हाथ रहा है। विज्ञान-पथ के पथिक को इसके विभिन्न विभागों का परिज्ञान परमावश्यक है।

उद्गमस्थान

पूर्व यह बतलाया जा चुका है कि गणित-विज्ञान अन्य विज्ञानों में अपना एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है और इसका प्रयोग लगभग सभी विज्ञानों में पाया जाता है। अब यह देखना है कि इसका उद्गम-स्थान क्या है ? किस प्रकार और कहाँ से मनुष्य के मस्तिष्क ने इस विज्ञान को अपना ज्ञातव्य विषय बनाया ? इत्यादि विचारणीय प्रश्न हैं। बुद्धिपूर्वक विचार करने पर पता चलता है कि यह अपने विविध विभागों सहित देश और काल की उपज है। सब दिशाओं में गति की संभावना देश (space) और गति का मान काल (Time) है। गणित-विज्ञान देश का विज्ञान और इसका एक भेद अंकगणित काल का विज्ञान है। ये देश और काल (space and time) यदि न होते तो इन विज्ञानों की कल्पना के लिए कोई स्थान नहीं मिल सकता था। यद्यपि बिशुद्ध काल चित्तवृत्तियों के परिणाम के ज्ञान का नाम है परन्तु दिक् प्रतिक्षेप से काल्पनिक काल को आकाश के साथ प्रपञ्चित माना जाता है और इससे अंकगणित की कल्पना की जाती है। देश में बिन्दु की कल्पना कर हम दिशा का और वस्तु को इधर-उधर हिलाकर हम देश और काल दोनों की कल्पना कर सकते हैं। जब तक काल चित्तवृत्तियों में निहित है तब तक उसका पूरा परिज्ञान नहीं होता परन्तु जब उसका परिणामात्मक प्रभाव बाह्य वस्तुओं पर पड़ता है तब वह हमारी कल्पना में आ जाता है। वह वस्तुओं के परिणाम से हमें प्रतीत होने लगता है। परिणाम का हम क्रमयुक्त देखते हैं अतः उन्हें अंकों में परिवर्तित करके अंकगणित की कल्पना करते हैं। वस्तुओं में जहाँ परिणाम है वहाँ वे किसी देश में हैं, यह भी मानना ही पड़ता है। देश में ऊँचाई, लम्बाई और मोटाई तीन परिमाण हैं। अतः

एकसौ साठ

देश से परिच्छिन्न वस्तु तीन परिमाणों वाली होती है, परन्तु प्रत्येक कार्य संघात में तीन परिमाण ही नहीं होते, चौथा भी होता है, जो कि उनकी अवस्था का मापक है। इनमें तीन परिमाण देश का है और चौथा परिमाण काल का है। तीन परिमाण मूर्त में रहते हैं परन्तु चौथा अमूर्त में भी रहता है। तीन परिमाण रेखागणित के उत्पादक हैं और चौथा अंकगणित का। प्रथम समय में जब अनन्ताकाश में ग्रहों की गति प्रारंभ हुई तो एक वर्तुल में हुई। उस वर्तुल के एक बिन्दु से दूसरे बिन्दु तक जाने में दोनों के मध्य जो रेखा बनी वह देश में होने से रेखागणित की उत्पादिका हुई। तथा उभयबिन्दु मध्य में जो गति हुई उसका मान काल होने से प्रत्येक अंश को अंक बनाकर अंकगणित निकला।

प्रकारान्तर और संक्षेप से इस विषय को इस प्रकार कहा जा सकता है। प्रत्येक कार्य-संघात चार परिमाणोंवाला (Four-dimensional) है। उनमें एक परिमाण तो ऐसा है जो तदनुगत परिवर्तन मात्र है। शेष तीन परिमाण उस संघात की ऊँचाई, लम्बाई और चौड़ाई हैं। इन चारों में परिणाम परिमाण काल का होने से अंकगणित का जनक है और तीन परिमाण रेखाओं, घनों और कोणों आदि से सम्बद्ध होने के कारण रेखागणित के जनक हैं। दोनों विज्ञानों को आधारभूत बनाकर पुनः बीजगणित का प्रादुर्भाव हुआ। इस प्रकार ये सभी विज्ञान देश और काल की देन हैं।

यह तो गणित-सम्बन्धी दर्शन की बात हुई। अब इसका प्रयोगात्मक अंचल भी देखना चाहिए। इस विज्ञान के दर्शनात्मक पहलू को प्रयोगात्मक में इस प्रकार वर्णन किया जाता है। प्रयोगात्मक भेद को समझने के लिए गणितज्ञ विभिन्न शब्दों का प्रयोग करते हैं। परन्तु विचार तो एक कार्यमात्र है, इससे ही पूरा कार्य चल जायगा, ऐसा नहीं समझना चाहिए। अतः अत्यन्त संक्षेप में गणितज्ञों ने एक शब्द प्रयोग में लिया है जो कि बहुत सुलभ और उपयुक्त है। साथ ही साथ यह गणित के

छानबीन के मुख्य उद्देश्यों तथा गणित-सम्बन्धी विचारों में प्रयुक्त मौलिक रहस्य की ओर तत्काल ध्यान को आकृष्ट करता है। वह शब्द है “अनेकरूपता और अनेकाकारता (Manifoldness)। इसे शब्दान्तर से बहुरूपता और बहुगुणितता भी कहा जा सकता है। यह भी दो प्रकार की है—राशिभूत (continuous) और अराशिभूत (Discrete)। भूपृष्ठ (surface) पर बिन्दुओं का एकत्रकरण एक द्विगुणित अनेकाकारता (Twofold Manifoldness) है। तीन परिमाणवाले देश (Tridimensional space) में बिन्दुओं की एकत्रता त्रिगुणित अनेकाकारता (Threefold manifoldness) है। किन्हीं अज्ञेय तर्कों के राशिभूत कार्य (Continuous function) का मूल्य एक अज्ञेयगुणित अनेकाकारता (n-fold manifoldness) है। अराशिभूत अनेकरूपता (Discrete manifoldness) के व्यवहार में एक मात्र तो नहीं परन्तु मुख्य स्थान गणना का है। इससे अंकों का विशुद्धगणित-विज्ञान (Pure Mathematical science of numbers) निकलता है, जो कि अंकगणित और उसकी एक उच्च शाखा जिसे साधारणतया अंकविज्ञान का वाद (Theory of numbers) कहा जाता है। यहाँ पर अंकगणित तथा अंकविज्ञान के स्वयंसिद्ध तथ्यों और विशेष परिभाषाओं में न पड़ते हुए संक्षेप में यही कहना पर्याप्त होगा कि सभी संख्या-सम्बन्धी कार्य तीन नियमों में अन्तर्भूत किये जा सकते हैं, जो कि साधारणतया परस्पर-परिवर्तन (Commutation) संगतिकरण या संमिश्रण (association) और विभाजन (distribution) के नियम कहे जा सकते हैं। योग (addition), गुणन (multiplication), शेष निकालना (subtraction) तथा भाग (division) आदि चार प्रकार के कार्य जो कभी कभी अंकगणित की चार जातियों के नाम से भी कहे जाते हैं, पूर्वोक्त तीन नियमों से ही अपने प्रयोजन को ग्रहण कर सार्थक और सप्रयोजन होते हैं।

राशिभूत अनेकाकारता के व्यवहार में जब हम प्रचलित ढंगों का सावधानी के साथ विचार करते हैं तो इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि वे दो प्रक्रियाओं में अन्तर्भूत हो सकते हैं। वे हैं सामान्य-विचार-प्रक्रिया (Synoptic Method) और विश्लेषणात्मक प्रक्रिया (Analytic Method)। प्रथम में हम अनेकाकारता की सामग्री को समूचे ढंग पर छानबीन कर अनुमित करते हैं और यदि आवश्यकता पड़ी तो अपनी बुद्धि को भी उसमें पूरी तरह बर्तते हैं। तथा आवश्यकतानुसार हम एक आकार (Diagram), एक प्रतिरूपक (Model) अथवा अन्य भी किन्हीं उपयुक्त उपायों, चाहे वे अधिक या न्यून परिष्कृत हों, द्वारा परिस्थितियों के अनुसार काम लेते हैं। दूसरी प्रक्रिया में हम अनेकाकारता के व्यक्तिगत तत्त्व पर अपने ध्यान को जमाते हैं। साधारणतया हर एक तत्त्व की विशेष निर्देश की निश्चित संख्या द्वारा परिभाषा करते हैं। इसका भिन्न भिन्न प्रकार हमें इस गृहीत अनेकाकारता के एक तत्त्व से दूसरे तत्त्व की ओर ले जाता है। इसमें हम एक तत्त्व की सामग्री का अत्यन्त व्यापक रूप से परीक्षण करते हैं और उनसे समूची अनेकाकारता की सामग्रियों की कल्पना कर लेते हैं। अनेकाकारता के सामान्यतः व्यवहार के सर्वथा ज्ञात और सर्वश्रेष्ठ उदाहरण शुद्ध रेखागणित के विविध प्रकार हैं। इनमें हम यूनानियों की (apogogic Geometry) को लेते हैं। यह परिभाषाओं और स्वयंसिद्ध तथ्यों के संग्रह के साथ स्थित है। यह एक प्रस्ताव के बाद दूसरे को बतलाती और सिद्ध करती है। इसमें तर्क के अनिवार्य प्रकारों का पूरा पूरा ध्यान रखा गया है और अनुमान के आधारों का भी सम्बन्ध बना रहता है। परन्तु इसमें सूत्रों (Theorems) की तरतीबों पर परस्पर प्रदर्शनों के विचार से थोड़ा ध्यान दिया गया है। यह रीति की उन पद्धतियों को बिल्कुल कुचल देती है जिनके द्वारा कि प्रस्ताव आविष्कृत किये जाते हैं। यद्यपि कहने की आवश्यकता नहीं कि यूनानी लोग विश्लेषणात्मक

प्रक्रिया को जानते थे परन्तु उनमें इसका प्रयोग केवल रेखागणित के तथ्यों के आविष्कार में ही सीमित था। यूनानियों की रेखागणित से कुछ थोड़ी विशेषता भरे, लेकिन सामान्य-विचार-प्रक्रिया की पुटों से युक्त वर्तमान रेखागणित के विभिन्न प्रकार भी समस्त उपस्थित होते हैं। यह अपनी परिभाषाओं में सामान्य पर अधिक बल देता है। इसमें तार्किक प्रक्रिया पर कुछ थोड़ा कम ध्यान दिया गया है परन्तु इसकी यह विशेषता है कि इसमें आविष्कार या विकास की स्वाभाविक शृंखलाबद्धता जितनी सीमा तक अवकाश देती है, रेखागणित के प्रस्तावों को उतने अधिक ढंग पर तरतीब दी गयी है। यह रेखागणित राशिभूतता के नियमों के लाभ का परीक्षण भी करता है।

वर्तमान रेखागणित के उदाहरण के रूप में महाशय मोंज का वर्णनात्मक रेखागणित, पैसिलेट स्टेनर और वानस्टाडट का प्रलम्ब रेखागणित (Projective Geometry) तथा सामान्य रूपान्तरण-रेखागणित (Geometry of transformation in general), जिसका प्रलम्ब रेखागणित एक प्रकारमात्र है, को हम प्रस्तुत कर सकते हैं। वर्तमान रेखागणित में एक और भी सुन्दर तथा रोचक प्रकार है, जो कि अंकविज्ञानात्मक रेखागणित (Arithmetic Geometry) के नाम से पुकारा जाता है। यह अपने कुछ विस्तारों में विश्लेषणात्मक है। इसमें सब प्रदर्शन उसी प्रक्रिया के निकटतम सामंजस्य से किये जाते हैं परन्तु जहाँ तक अपने मूल सिद्धान्तों का सम्बन्ध है उसमें यह सामान्य-विचार-प्रक्रियात्मक है। इसे ही चिह्नों का विशेषवाद (Theory of characteristics) कहा जाता है जो कि प्लुकर महोदय के चिन्हसमीकरण वा विशेष समीकरण (Characteristic Equation) में प्रारंभ हुआ और महाशय चेजेल्स तथा अन्यो के द्वारा प्रबल और विशिष्ट प्रक्रिया के रूप में परिणत किया गया।

यहाँ तक यह देखा गया कि अनेकाकारता के दो प्रकारों पर ही गणित-विज्ञान के विशेष विभागों की कल्पना हुई। अब थोड़ा सा दिग्दर्शन प्रकारों का कराया जाता है। गणित में दोनों ही बर्ते जाते हैं। जहाँ जिसकी आवश्यकता हो वहाँ उसका ग्रहण किया जाता है। यह कोई सिद्धान्तभूत बात नहीं कि इस अनेकाकारता के राशिभूत और अराशिभूत प्रकारों का आन्तरिक भेद विचार में आवश्यकता के कारण समवेत हो। एक विचार को हम अराशिभूत अनेकाकारता के रूप में लेते हैं और दूसरे को राशिभूत अनेकाकारता के रूप में। इस रहस्य को इस ढंग पर समझा जा सकता है। एक असीम सरल रेखा (Un-limited Straight line) को लीजिए। इस अवस्था में यह एक एक-गुणित-अनेकाकारता (Onefold-manifoldness) के रूप में ली जा सकती है परन्तु जब हम इसे समूचे तौर पर लेते हैं और एक तथ्य को ध्यान में रखते हुए कि इसकी देश में स्थिति चार वस्तुओं द्वारा निर्धारित है तब यह एक चतुर्गुणित अराशिभूत अनेकाकारता (Quadruple discrete manifoldness) हो जाती है।

दो प्रक्रियाएं

संसार में प्रत्येक मनुष्य की बुद्धि एक सी नहीं है। सबकी बुद्धियों और विचार-दृष्टियों में भेद है। कोई किसी वस्तु को सामान्य दृष्टि से विचारता है कोई ऊहापोह करके विशेष की खोज करता है। यही बात अनेकाकारता के विचार पर भी लागू होती है। प्रत्येक गणितज्ञ ने इन्हीं अपनी दृष्टियों से विचारा। किसी ने सामान्यतः और किसी ने विशेषतः। ये दो दृष्टियाँ ही दो प्रक्रिया के रूप में प्रचलित हो गयीं। अनेकाकारता के अध्ययन में इन दोनों से कार्य लेकर गणित-विज्ञान को पर्याप्त विस्तार दिया गया। इन्हें हम सामान्य-विचार-प्रक्रिया (Synoptic Method) और विश्लेषणात्मक-विचार-प्रक्रिया (Analytic Method) कहते हैं।

जिनका दिग्दर्शन पहले किया जा चुका है। रेखागणित के कुछ प्रकार प्रथम और कुछ दूसरे के परिणामस्वरूप हैं। इनमें पहली समूचे पदार्थ की सर्वसाधारण संपत्ति या सामग्री के विचार पर चलती है और दूसरी आंशिक रूप से विशेष सामग्री के विचार पर अवलम्बित है।

यह कोई अनिवार्य नहीं कि अनेकाकारता की सामान्य-विचार-प्रक्रिया का एकमात्र क्षेत्र-रेखागणित ही होवे। गणितज्ञ इस सत्य से पूर्णतया अभिज्ञ हैं, रैमैन महोदय ने इस विषय पर एक निबन्ध में यह सिद्ध कर दिया है कि रेखागणित की सभी रीतियाँ उचित ढंग पर व्यापकता से प्रयोग में लाये जाने पर किसी भी अनेकाकारता के व्यवहार में प्रयुक्त की जा सकती हैं। सत्यता को न छिपाते हुए यह कहना भी आवश्यक है कि कैली महोदय तथा अन्य विद्वानों द्वारा यह अनेकाकारता की सामान्य-विचार-प्रक्रिया विश्लेषणात्मक प्रक्रिया के निकटतम ढंग के रूप में बर्ती जा चुकी है। परिमाण का महत्त्वपूर्ण विज्ञान (The abstract science of quantity) अनेकाकारता की विश्लेषणात्मक प्रक्रिया के व्यवहार का परिणाम है और बीजगणित के नाम से प्रसिद्ध है। इस प्रक्रिया के इतिहास से यह भली प्रकार व्यक्त है कि इसमें गलतियों की सम्भावना बहुत थोड़ी है। क्योंकि विशेष प्रकार की अनेकाकारता के लिए इसके विशेष प्रयोग हैं। त्रिपरिमाण देश (Tridimensional space) की सामग्रियों के विचार में इसके प्रयोग के उदाहरणार्थ हम कार्टेसियन रेखागणित तथा प्लकर महोदय की रेखा सम्बन्धी रेखागणित (Line Geometry) का प्रमाण दे सकते हैं। प्रयोगात्मक गणित, जिसका कि रेखागणित एक सरलतम भाग है, की विभिन्न शाखाओं में इस प्रक्रिया का प्रयोग सामान्य-विचार-प्रक्रिया की अपेक्षा अधिक व्यापकता से है। प्रयोगात्मक गणित की बहुत सी शाखाएँ इन दोनों के मिश्रण हैं जो कि अपनी सुविधा के अनुसार दोनों का उपयोग करती हैं।

गणित-विज्ञान और भारतीय दृष्टिकोण

यद्यपि सत्य में प्राची, प्रतीची और इंग्लैंड तथा भारत का भेद नहीं, यह तो देशकाल की सीमा से परे, सार्वभौम, सर्वत्र एक समान है; परन्तु फिर भी किस अवस्था में किसने उसे समझा, यह बतलाना देश, जाति और संस्कृति के स्तर का परिचायक है। अतः इन पंक्तियों में उपरिक्थित शीर्षक से इस विज्ञान को भारतीयों ने किस प्रकार समझा था, उनका इस विषय में क्या दृष्टिकोण था, आदि का एक संक्षिप्त सा परिचय दिया जाता है। भारतीय साहित्य में सबसे अधिक प्राचीनता वेदों को दी जाती है। आर्य लोग इन्हें ईश्वरीय मानते हैं। ऋग्वेद इनमें से संसार के पुस्तकालय में सर्वप्राचीन पुस्तक है, यह तो लगभग सभी विचारवान् विद्वानों की सम्मति है। वेद इस विज्ञान के विषय में क्या विचार रखते हैं, यह पहले देखना है। विचारपूर्वक देखा जाय तो कई वैदिक संहिताओं में गणित का बीज पाया जाता है। अंकगणित, रेखा-गणित आदि के विचार वेदों में देखे जाते हैं, यही कारण है कि उनके आधार पर रचे गये ज्योतिष आदि वेदांगों में उच्च श्रेणी का गणित पाया जाता है। जितने भी गणित के ग्रन्थ लिखे गये वेद को आधार मान कर लिखे गये।

अंक-गणित विशुद्ध काल का विज्ञान है और रेखागणित विशुद्ध देश का। इनका प्रारंभिक व्यवहार आकाशस्थ ग्रहों की गतियों से सम्बद्ध है

अतः पृथक् पृथक् इस प्रकार का वर्णन वैदिक साहित्य में नहीं दिया गया। परन्तु इतना अवश्य है कि इस महत्त्वपूर्ण विषय की उपेक्षा भी नहीं की गयी है। ऋग्वेद-संहिता में एक मंत्र जो कि यजुः आदि में भी मिलता है, इस विषय पर अच्छा प्रकाश डालता है। यह मंत्र, रेखागणित-विज्ञान विशुद्ध देश का विज्ञान है इसकी ओर निर्देश करते हुए तत्सम्बन्धी गणित-विज्ञान का वर्णन करता है। मंत्र भी इतना प्रसिद्ध है कि वेदाध्यायियों में प्रत्येक की जिह्वा पर रहता है। वेद के सभी भाष्यकारों ने इसके भिन्न भिन्न अर्थ किये हैं। कोई इसे परमेश्वर के अवतार के विषय में लाता है तो कोई वैज्ञानिक ढंग पर सूर्य के अर्थ में। नैरुक्त लोग इसे सूर्यपरक ही मानते थे, ऐसा यास्कीय निरुक्त के देखने से स्पष्ट पता चलता है। नैरुक्तों का यह अर्थ बहुत ही विज्ञानपूर्ण है। ठीक है, मंत्र के ये अर्थ भी हैं और इनसे दूसरे भी अर्थ हो सकते हैं। सत्य जिस प्रकार प्राची, प्रतीची के भेद से रहित है, वैसे ही वह वैयक्तिक दृष्टिकोणों की परिधि में भी बँधा हुआ नहीं है। सत्य व्यक्ति पर नहीं अवलंबित है बल्कि व्यक्ति उसके प्रकारों को अनेक तरह से समझ सकता है। मेरे विचार में इस मंत्र में जो विष्णु को 'वामन' मानकर उसके द्वारा सारे ब्रह्माण्ड को मापने की कल्पना की गयी है, वह गणित-परक है। वामनावतार-सम्बन्धी जो गाथा है, वह वास्तव में वामनावतार भले ही न सिद्ध कर सके परन्तु रेखागणित के विज्ञान की ओर निर्देश अवश्य करती है। संसार में वामन के द्वारा ब्रह्माण्ड को मापना न तो देखा गया और न कल्पना में ही आ सकता है। फिर 'वामन' क्या है? इसका समाधान मेरे विचार में यह है कि विष्णु जिसे 'वामन' कहा जाता है वह माप (Measurement) का प्रतिरूप (Symbol) है। ब्रह्माण्ड क्या है? इसको हम देश (Space) जो हमारे सामने है, उसके विस्तार से कल्पित कर सकते हैं। कितना बड़ा यह देश है, इसकी कल्पना करना भी एक कठिन कार्य है। फिर भी

शिखण-सरङ्गिणी

विष्णु जो स्वयं वामन है, इसे तीन कदमों में माप लेता है, यह एक आश्चर्य की बात है। जब हम वामन को माप मान लेते हैं तब सारा देश तीन कदमों में उससे भली प्रकार मापा जा सकता है। सपाट को वर्ग आदि से मापा जा सकता है परन्तु देश सपाट तो है नहीं अतः उसे विशेष प्रकार से मापना पड़ेगा। इस विशेष प्रकार के माप को ही यह विष्णुवाली गाथा बतलाती है। सारा देश तीन परिमाणोंवाला (Tridimensional) है। वह सारा त्रिकोण (Triangle) में आता है और उसी से उसकी माप हो सकती है। काल के विषय में भी ऐसी ही व्यवस्था है। इसी बात को मंत्र और गाथा में बतलाया गया है। संपूर्ण देश की माप तो इस प्रकार बतलायी गयी परन्तु पृष्ठ की माप का पैमाना भी बतलाया गया है, वह है 'वेदि' जिससे समतल आयत आदि की माप की जाती है। वेदि (Square) और विष्णु का सम्बन्ध भी वैदिक साहित्य में बहुत घनिष्ठ दिखलाया गया है। पृथ्वी को वेदि से और देश को विष्णु के तीन कदमों से मापा जाता है, यह वैदिक साहित्य के अध्ययन से समुपलब्ध होता है। ऋग्वेद में एक अन्य स्थल पर वर्णन करते हुए लिखलाया गया है कि "विभेद परिधीरिव त्रितः"। अर्थात् जिस प्रकार परिधि (Circle) को त्रित (Triangle) काटता है उसी प्रकार इन्द्र ने वृत्र की मण्डलाकार स्थित सेना को काट दिया। लोग 'त्रित' का अर्थ व्यक्ति विशेष करते हैं परन्तु यहाँ पर उसका सम्बन्ध तो कोई घटता नहीं। यहाँ पर उसका अर्थान्तर ही लेना पड़ेगा। कई अन्य आचार्यों ने भी इसका अर्थान्तर माना ही है। यास्क और उसके भाष्यकार स्कन्द आदि ने इसका अर्थ तीन स्थानों में रहनेवाला इन्द्र किया है। उनके इस पथ-प्रदर्शन से हमें भी समुचित अर्थान्तर निकालने का अवसर मिलता है और इसका पूरा लाभ उठाने में कोई बाधा भी नहीं मालूम पड़ती। 'त्रित' का अर्थ यहाँ पर लेना चाहिए त्रिकोण (Triangle) जो कि युक्तिसंगत है और उपमा भी ऐसा

करने में सार्थक हो जाती है। अर्थ स्पष्टतया यह भासित होने लगेगा कि जिस प्रकार त्रिभुज परिधि को काटता है उसी प्रकार इन्द्र ने वृत्र की सेना के मण्डलाकार व्यूह को काट दिया। त्रित के कूप-पतन की गाथा भी इसी प्रकार रेखागणित के उस तथ्य पर प्रकाश डालती है। त्रिभुज की स्थिति पर प्रकाश डालते हुए पुनः एक स्थल पर लिखा गया है “योनिं कृत्वा त्रिभुजं शयानः” अर्थात् त्रिभुजाकार स्थान को बनाकर शयन करता हुआ। अन्यत्र भी बहुत से मंत्रों में रेखागणित का वर्णन मिलता है, जिसका विशद वर्णन समयान्तर से मैं पुनः पुस्तक के रूप में उपस्थित करने की इच्छा रखता हूँ। इसी प्रकार गणित के दूसरे विज्ञान अंकगणित का भी स्पष्ट वर्णन अनेक स्थलों पर वेदों में देखा जाता है। यजुर्वेद में इकाई दहाई से लेकर परार्ध्य-पर्यन्त अंकन (Notation) का प्रकार दिखलाया गया है। जब कि दूसरे देशों में दस करोड़ से आगे यह प्रकार नहीं बढ़ता, यजुर्वेद में इसे पूरे परार्ध्य अर्थात् २० अंक तक इसके मान को दिखलाया गया है। जब अंकन का प्रकार इतना है तो आगे इसका विस्तार तो अवश्य ही अधिक होगा। अथर्ववेद में एक मन्त्रांश “शतं चते ऽयुतं हायनान् द्वे युगे त्रीणि चत्वारि कृष्णः” में सृष्टि की आयु के वर्षों का वर्णन करते हुए बतलाया गया है कि सात अदद तक शून्यों के बाद क्रमशः दो तीन चार करने अर्थात् ४,३२,००,००,००० से सृष्टि के वर्षों की संख्या आती है। यह ब्रह्मा का एक दिन वर्णन किया गया है और ब्रह्मरात्रि का परिमाण भी इतना ही है। इस लम्बे समय में सूर्य के उन विन्दुओं का जहाँ पर कि किसी ग्रह-गति की परिधि का कटाव होता है (नोड्ज) शीर्षतल तथा पदतल (एम्पायजर) का एक पूर्ण चक्कर हो जाता है। इस ज्योतिष की घटना के अनुसार ही यह समय-सीमा ब्रह्म-दिन की या सृष्टि के आयु की नियत की गयी। इसे ही आधार मानकर हमारे ज्योतिष ग्रन्थों में युगों की गणन, तथा अन्य प्रकार की काल-

गणनाओं का विस्तार किया गया। यजुर्वेद में एक मंत्र में १, ३, ५, ७ और ९ आदि कहकर दो दो के अन्तर से विषम संख्याओं का युग्म वर्णन किया गया है। इससे सब के सब पहाड़े बन जाते हैं और अंक-गणित के अन्य बहुत से नियम निकलते हैं। इस मंत्र में दी गयी संख्याओं के परस्पर योग, गुणन, शेषकरण तथा भाग से विस्तृत अंकगणित का विकास हो सकता है। मंत्र में स्पष्ट ही वर्ग (Square) और वर्गमूल (Square-root) का वर्णन दृष्टिगोचर हो रहा है। जिस छोटी संख्या का वर्ग निकालना हो क्रमशः उतने नम्बर तक मंत्रक्रम में पठित अंकों का योग कर देने से तत्काल वर्ग निकल आवेगा। उदाहरणार्थ ३ अथवा चार का वर्ग निकालना है तो क्रमशः मंत्र में पठित संख्याक्रम १ + ३ + ५ तथा १ + ३ + ५ + ७ को जोड़ने से ९ और १६ उनके फल वर्ग के रूप में निकल आवेंगे। ऐसे ही और भी अन्य प्रकार इन मंत्रों से निकल सकते हैं। उससे अगले मंत्र में चार के पहाड़े के साथ साथ समसंख्याओं का वर्णन मिलता है। इससे भी अंकगणित के कई प्रकार निकल सकते हैं। बीजगणित रेखा और अंकों के विज्ञान से निकला है अतः इससे मात्तूम पड़ता है कि उसका वर्णन इनके अन्तर्गत ही है।

वेद में मूलरूप में आयी इस गणित-विद्या को ही अन्य ज्योतिष तथा गणित के संस्कृत-ग्रंथों में पल्लवित किया गया है। सूर्यसिद्धान्त आदि ज्योतिष ग्रंथों की उत्पत्ति वेद के मूल को लेकर ही हुई है, यह आचार्य-जन स्वयं स्वीकार करते हैं। इन ग्रंथों के रचनाकाल में भारत ने गणित-विज्ञान के सभी अंगों में उन्नति की थी, इनके देखने से स्पष्ट प्रतीत होता है। आचार्यों ने ऐसे गणित के प्रस्तावों और प्रयोगों को प्रयोगात्मक रूप दिया कि आज समस्त गणितज्ञ-संसार उनकी प्रशंसा करता है। भारत में जहाँ ज्योतिष-विज्ञान अत्यन्त उच्च स्थान पर था वहाँ उसके सहकारी गणित ने भी अच्छी सीमा तक उन्नति प्राप्त की थी। ज्योतिष और गणित

विद्या के १८ प्राचीन आचार्य हो चुके हैं जो भास्कर से भी बहुत पूर्व के ह। यद्यपि इन सबके ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं फिर भी उनके नाम ग्रन्थों में मिलते हैं। वे १८ आचार्य सूर्य, ब्रह्मा, व्यास, वसिष्ठ, अत्रि, पराशर, काश्यप, नारद, गर्ग, मरीचि, मनु, अंगिरा, लोमश, पुलिश, च्यवन, यवन, भृगु और शौनक हैं। इन सभी आचार्यों के ग्रन्थ यदि समुपलब्ध हो जावें तो संसार का बड़ा ही उपकार हो सकता है। नारद भी इन आचार्यों में से एक हैं। इनको लोक में जितनी बुरी तरह याद किया जाता है, वह सभी को विदित है। नारद नाम लेते ही लोग भेद लगानेवाले का अर्थ निकाल लेते हैं। भारत में नारद, दुर्वासा, मन्थरा और माहिल अपने वास्तविकता से भिन्न अर्थों में ही प्रचलित हैं। परन्तु जो कुछ भी हो, नारद के विषय में यह बात वास्तविक नहीं जान पड़ती। नारद को प्राचीन संस्कृत-साहित्य में महर्षि सम्बोधित किया गया है। चन्द्रमा में भी कलंक होता ही है, अतः हो सकता है कि उनमें भी लोक-प्रसिद्धिवाले गुणों की विद्यमानता रही हो, परन्तु वे निःसन्देह गानविद्या, वाद्यविद्या और गणित आदि अनेक विद्याओं में पारंगत, महान् विद्या-विशारद ऋषि थे। सनत्कुमार के समीप जाने पर अपने हृदयंगत बोध का जो परिचय उन्होंने दिया है उससे इस कथन में सन्देह को कोई स्थान नहीं रहता। नारद ने वहाँ अपने मुख से बतलाया है कि वह अमुक अमुक विद्याएँ जानते थे। वे विद्याएँ निम्न हैं:—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास पुराण (History) वेदानांवेदः (Grammar and Philosophy etc); पित्र्य (Anthropology), राशि (Mathematics); दैव-उत्पात आदि विद्या (Physical Geography), निधि (Minerology); वाको-वाक्य (Logic) एकायन (Ethics) देवविद्या (Physical Science); ब्रह्मविद्या (Metaphysics); भूतविद्या (Zoology and Anatomy etc); क्षत्रविद्या (Military Science and Art of Government); नक्षत्र-

विद्या (Astronomy); सर्पविद्या (Science treating Venomous Reptiles) और देवजनविद्या (Art of Singing and Playing on Instruments) । ये विद्याएँ हैं, इनमें गणित का भी परिगणन है, जो स्पष्टतया प्रमाणित करता है कि नारद एक महान् गणितज्ञ भी थे । इस विषय पर इनका कोई ग्रन्थ भी था, यह अभी अन्धकार के गर्भ में है । गणित-सम्बन्धी एक और भी प्राचीन ग्रन्थ का पता चलता है । हो सकता है कि खोज से भविष्य में वह उपलब्ध भी हो सके । यद्यपि उस नाम का एक छोटा सा ग्रन्थ उपलब्ध भी है परन्तु यह वही है कहा नहीं जा सकता । बड़ौदा के राजकीय पुस्तकालय में एक हस्तलेख है जो कि महर्षि भरद्वाज के 'यन्त्रसर्वस्व' नामक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ का बोधानन्दवृत्ति सहित 'वैमानिक प्रकरण' अपूर्ण भाग मात्र है । यह भी वृत्तिकार के हाथ का नहीं बल्कि प्रतिलिपि है । इस हस्तलिखित वैमानिक प्रकरण ग्रन्थ में २५ भिन्नभिन्न विद्याविषयक आर्षग्रन्थों की सूची दी गयी है । इस सूची में वाल्मीकिकृत वाल्मीकि-गणित का भी उल्लेख आया है । ग्रन्थों की सूची भी वहाँ से जिज्ञासुओं के लाभार्थ दी जाती है जो कि इस प्रकार है:—

- (१) शक्तिसूत्रम्—अगस्त्यकृतम् ।
- (२) सौदामिनीकला—ईश्वरकृता
- (३) शुद्धिविद्याकलापम्—आश्वलायनकृतम्
- (४) ब्रह्माण्डसारः—व्यासप्रणीतः
- (५) अंशुज्ञानम् ,,
- अशुमत्तंत्रम्—भरद्वाजकृतम्
- (६) छन्दः कौस्तुभः—पराशरप्रणीतः
- (७) कौमुदी—सिंहकोठकृता
- (८) रूपशक्तिप्रकरणम्—अंगिरसकृतम्
- (९) करकप्रकरणम्— ,, ,,

- (१०) आकाशशास्त्रम्—भरद्वाजकृतम्
- (११) लोकसंग्रहः—विसरणकृतः
- (१२) अगतत्वलहरी—आश्वलायनकृता
- (१३) प्रपंचलहरी—वशिष्ठकृता
- (१४) यन्त्रसर्वस्वम्—भरद्वाजकृतम् ।
- (१५) लोहशास्त्रम्—शाकटायनकृतम्
- (१६) जीवसर्वस्वम्—जैमिनिकृतम्
- (१७) कर्माधिपारः—आपस्तम्बकृतः
- (१८) धातुसर्वस्वम्—बौधायनकृतम्
- (१९) रुक्कदयम्—अत्रिकृतम्
- (२०) नामार्थकल्पः—अत्रिकृतः
- (२१) वायुतत्त्वप्रकरणम्—शाकटायनकृतम्
- (२२) वैश्वानरतन्त्रम्—नारदकृतम्
- (२३) धूमप्रकरणम्—नारदकृतम्
- (२४) ओषधिकल्पः—अत्रिकृतः
- (२५) वाल्मीकिगणितम्—वाल्मीकिकृतम्

इस सूची में महर्हग्रन्थ हैं । यदि ये सब के सब प्राप्त हो जावें तो, इसमें सन्देह नहीं कि मनुष्य-जाति का एक महान् उपकार हो । पहले ऐसे ग्रन्थरत्न उपस्थित थे परन्तु विकराल काल ने उन्हें अवशिष्ट नहीं रखा । इनके विषय में वास्तव में महान् खोज की आवश्यकता है । अस्तु ! कुछ भी हो, इन उद्धरणों से यह भली प्रकार सिद्ध है कि भारत ने अन्य विद्याओं के साथ साथ गणित में भी प्राचीन काल में बहुत उन्नति की थी ।

ब्राह्मणग्रन्थों और शुल्बसूत्रों को देखने से पता चलता है कि यज्ञ के कार्यों के संपादनार्थ आये लोग ज्योतिष, गणित और रेखागणित आदि

अनेक विषयों से काम लेते थे। यज्ञार्थ उपयुक्त समय निश्चित करने के कुछ नियमों की आवश्यकता ने आर्यों में ज्योतिष-विद्या के अन्वेषणों की भावना पैदा की और इसी आवश्यकता की पूर्ति में रात-रात ग्रंथों तारों आदि का निरीक्षण कर ज्योतिषविज्ञान का विस्तार किया। मंत्रों के अशुद्ध उच्चारण करने से अनर्थ होगा, इस भावना ने उन्हें अर्थविज्ञान (Phonetics) के अन्वेषण को प्रेरित किया और उन्होंने एक चरम सीमा का ध्वनि-विज्ञान संसार के सामने उपस्थित किया। यज्ञकुण्डों के निर्माण करने की आवश्यकता से भारत में रेखागणित की खोज हुई। ब्राह्मण और कल्प ग्रंथों में विभिन्न प्रकार के यज्ञकुण्डों के निर्माण करने का निर्देश किया गया है। उनकी रचना रेखागणित के ज्ञान के बिना नहीं हो सकती। अतः आर्यों ने—ऐसे वर्ग (Squares) निकालना जो कि दो या अधिक दिये वर्गों के समान हों; या दो दिये वर्गों के अन्तर के समान हो; आयतों (Oblongs) को वर्गों (Squares) और वर्गों को आयतों में परिवर्तित करना; और त्रिभुज (Triangle) को ऐसा बनाना कि वह दिये गए वर्गों और आयतों के बराबर हो जावे इत्यादि बातों की खोज की। उन्होंने यह भी जानने का प्रयत्न किया कि 'एक ऐसे वृत्त (Circle) को निकाला जावे जिसका क्षेत्रफल संभवतः अधिकांश निकटतम रूप से से दिये गये वर्ग के समान हो सके। इन नियमों को प्रयोगात्मक रूप देने से रेखागणित के नियमों की एक माला बन गयी, जो शुल्बसूत्रों में हमें भली प्रकार मिलते हैं। ये शुल्बसूत्र कल्पसूत्रों के एक अंश हैं। यूनानी लोग और शुल्बसूत्रों को न देखे हुए केवल पाश्चात्य लोगों के चरण-चिन्हों पर चलनेवाले लोगों का कहना है कि रेखागणित का यह सूत्र कि "कर्ण-त्रिभुज के समकोण के सामने की रेखा (Hypotenuse) का वर्ग समकोणचतुर्भुजक त्रिकोण (Rectangular Triangle) के दूसरे दो भुजों के वर्गों के बराबर होता है", पैथागोरस नामी यूनानी विद्वान का है।

परन्तु यह पैथागोरस से दो शताब्दी पूर्व और ईसा से ८ शताब्दी पूर्व भारत में जाना जा चुका था। पैथागोरस ने भी इसे भारतीयों से ही सीखा था जो कि आगे के पंक्तियों में व्यक्त हो जावेगा। यह प्रस्ताव वास्तव में दो नियमों में प्रचलित कात्यायन सुल्वसूत्र में ज्यों का त्यों विद्यमान है। यह यूक्लिड का ४७ वाँ साध्य है जिसे लोग अभारतीय विद्वानों की देन समझते थे परन्तु सुल्वसूत्र में इसे देखकर लोगों को आश्चर्यचकित होना पड़ता है। तदनुसार ये दोनों साध्य इस प्रकार बनेंगे—

१—किसी वर्ग (Square) के कर्ण (Diagonal) पर जो वर्ग बनाया जाता है वह उस वर्ग से द्विगुण होता है।

२—एक आयत (Oblong) के कर्ण (diagonal) पर का वर्ग उस आयत के दो असमान बाहुओं (Sides) पर के वर्ग के बराबर होता है।

इसके अतिरिक्त इन सुल्वसूत्रों में किसी वर्ग के त्रिगुणित, चतुर्गुणित, पंचगुणित अथवा अनेकवारगुणित क्षेत्र का वर्ग बनाने; भिन्न भिन्न आकारों के दो वर्गों को मिलाने; किसी वर्ग को किसी से पृथक् करने; किसी आयत को वर्ग अथवा वर्ग को आयत में परिवर्तित करने; किसी वर्ग को वृत्त और वृत्त को वर्ग में परिवर्तित करने आदि के नियम देखे जाते हैं। इस प्रकार भारतीय वाङ्मय के अध्ययन और विवेचन से पता चलता है कि भारत में गणित का पूरा विस्तार था। इसी प्रकार भारतीयों के अंक-विज्ञान की भी तुलना कहीं नहीं प्राप्त है। भारत के अंकगणितज्ञ धरा के अन्य देशों से कहीं आगे बढ़े हुए थे। शून्य का ईजाद, उसका प्रयोग और मान निर्धारण आर्यों ने किया और विश्व को दिया। दशमलव के अङ्कन (Decimal Notation) के प्रकार को भी संसार ने भारतीयों से सीखा। बिना इस दशमलवअङ्कन के अङ्कगणित का एक प्रयोगात्मक विज्ञान

(Pratical Science) के रूप में आना असंभव था । अरब के लोगों ने इस विधि को भारतीयों से सीखा और योरप में प्रचारित किया । पुराने समय में रोम के लोग इससे पूर्णतया अनभिज्ञ थे और इसमें किसी विशेष प्रकार की उन्नति इसीलिए नहीं कर सके । अस्तु । इसके इतिहास की बात तो बाद में बीजगणित के इतिहास शीर्षक में लिखी जावेगी । यहाँ पर तो इतना ही कहना आवश्यक है कि भारतीय इस विज्ञान में पूर्वकाल से ही बड़े समुन्नत थे । वेद से लेकर इस विज्ञान-सम्बन्धी भारतीय संस्कृत साहित्य में समुन्नत गणित का प्रकार मिलता है । ब्रह्मसिद्धान्त, भास्कर के सिद्धान्त-शिरोमणि और लीलावती आदि ग्रंथ इस विषय में एक उच्च स्थान रखते हैं । पाश्चात्य गणितज्ञ भी इनकी प्रशंसा करते हैं । इनमें प्रदर्शित बीजगणित के प्रकार पर भी विद्वज्जन बहुत ही मुग्ध हैं ।

प्राचीन-भारत की राजकीय व्यवस्था

भारत में अनेक प्रकार की शासनपद्धतियाँ समय-समय पर प्रयोग में लाई जा चुकी हैं। इन प्रयोगों से सार्वजनिक जीवन और राजकीय व्यवस्था में जो चढ़ाव-उतार होते रहे—उनका वर्णन प्राचीन वाङ्मय में निर्देशात्मक रूप में मिलता है। इतिहास का अनुशीलन करने से परिज्ञात होता है कि यहाँ राजनीति-विद्या भी उत्थान की उच्च सीमा तक पहुँच चुकी थी। प्रचीन आर्यों ने जहाँ विविध ज्ञान-विज्ञान और दर्शन पद्धतियों के विषय में संसार को मार्गदर्शन कराया वहाँ राजनीति और अर्थशास्त्र में भी उनकी देन एक महत्वपूर्ण स्थान रखती है। काल की कराल गति से विविध ज्ञानराशि लुप्तप्राय हो गई। आज उसका नाम तक देखने और सुनने को नहीं मिलता। फिर भी जो प्राचीन वाङ्मय समुपलब्ध है उसे देखने से कतिपय ऐसे ग्रंथों का पता चलता है जो मानव जाति के लिये महार्ह रत्न थे। राजनीति विद्या के भी बहुत से ग्रंथ लुप्तप्राय हैं। जो उपलब्ध हैं उनके देखने से पता चलता है कि इस दिशा में एक महती प्रगति प्राचीन काल में हुई थी। जिस देश के अनेक चक्रवर्ती राजा भूमण्डल पर सफल शासन कर चुके हों, उसमें कोई राजनीति-विज्ञान और परिमार्जित राज्यप्रणाली न रही हो—यह कैसे सम्भव है। कैवल्योपनिषद् में सुद्युम्न, भूरिद्युम्न, इन्द्र

द्यम, कुवलाश्व, यौवनाश्व, वद्ध्यश्व, अश्वपति, शशविन्दु, हरिश्चन्द्र, अम्वरीष, ननक्तु, सर्पाति, ययाति, अनरण्य, अक्षसेन, मरुत्त, भरत इन राजाओं की नामावलि पायी जाती है। ये सभी राजा चक्रवर्ती थे—ऐसा इस उपनिषद् में उद्धृत है। इसी प्रकार राजनीति और अर्थशास्त्र विषयों पर ग्रन्थ लिखने वाले आचार्य भी कई हो चुके हैं। ऐसा महा-भारत शान्तिपर्व ६७ अध्याय में लिखा गया है और चाणक्य ने भी अपने अर्थशास्त्र में इसे पुष्ट किया है कि—मनु प्रथम राजा हुआ। इस वैवस्वत मनु के काल से ही राजनीतिशास्त्र और अर्थ शास्त्र का प्रयोग वृद्धि को प्राप्त हुआ। ब्रह्मा ने वेद से आकृष्ट करके त्रिवर्ग का एक मूल वृहदाकार शास्त्र बनाया। बाद में उसका संह्रंष होता गया। ब्रह्मा से लेकर महाभारत-पर्यन्त राजनीतिविद्या के निम्नलिखित २४ उपदेशा हो चुके हैं। ब्रह्मा, स्वायम्भुव मनु, प्राचेतसमनु, वैवस्वतमनु, विशालाक्ष (शिव) इन्द्र, वृहस्पति, उशनाः, नारद, बुद्ध, सुधन्वा आंगिरस, मरुत्त, भारद्वाज, पाराशर, गर्ग, गौरशिरा, भागुरि, भीष्म, द्रोण, कृष्ण, उद्धव, विदुर, शम्भु, तथा वेदव्यास। इनमें से कौटिल्य ने ही अपने अर्थ शास्त्र में १० के नम्बरों का यथास्थान उल्लेख किया है।

इनके अतिरिक्त आठ धर्मग्रन्थकारों ने भी न्यूनाधिक रूप से राज-शास्त्र का उपदेश किया है। ये हैं—हारीत देवल, शंख, गोतम, वसिष्ठ, आपस्तम्ब, बोधायन और शौनक। बाद में आम्भीय, चारायण, विष्णु-गुप्त कौटिल्य, विष्णुशर्मा, कामन्दक और सोमदेवतूरि ने इस विषय के ग्रंथ लिखे हैं। इनको देखने से इस विषय में सामग्री मिलती है। इनमें जहाँ राजशासन आदि की प्रक्रिया उपलब्ध होती है—वहाँ कर-व्यवस्था का भी परिचय भली प्रकार मिलता है। पुराकालिक भारत में कुछ निश्चित सिद्धान्तों पर ही राजकीय कर-व्यवस्था आधारित थी। ये सिद्धान्त इतने दृढ़ थे कि अनेक परिवर्तनों के होते हुए भी राजकर में

प्रजा ने कभी किसी प्रकार की अवहेलना नहीं की। नियत कर राजा को सदा मिलता ही रहा। वेद से लेकर महाभारत और उससे लेकर कौटिल्य के समय तक इस कर-व्यवस्था का प्रचलन मिलता है। ऋग्वेद १०।१७३।६ में सर्व प्रथम राजा को प्रजा से कर लेने वाला अधिकारी कहा गया है। इसके बाद नीति ग्रन्थों में इस कर-प्रणाली का फैलाव किया गया है।

नीति-ग्रन्थों से पता लगता है कि एक राष्ट्र के संगठन की दृष्टि से राजकीय कर-व्यवस्था एक महत्व की वस्तु है। किस किस नियम और हिसाब से कर लिया जाय—यह सब निश्चित था। शासन व्यवस्था कोई भी रहे, शसक का मन कभी भी राजकर के विषय में विचलित नहीं होता था। यही प्रधान कारण था कि राजा और प्रजा में राजकर विषय को लेकर कोई झगड़ा नहीं होता था। कर धर्म-पूर्वक लिया जाना था और राजा को इस विषय में किसी प्रकार का लोभ नहीं होता था। महाभारत शान्ति पर्व ७१।१५ का कथन है कि जो लोभी राजा ऐसे कर एकत्र करके, जिसका शास्त्रों में अनुमोदन नहीं है, अपनी प्रजा पर अत्याचार करता है, वह वस्तुतः अपने ऊपर ही अन्याय करता है। यदि कोई राजा कभी धर्मनियम को तोड़कर 'कर' ग्रहण करता भी था तो उसे निन्दित ठहराया जाता था। कभी कभी तो यहाँ तक हो जाता था कि प्रजा बलात् अधिक कर लगाने वाले को उसका राज्य छोड़ जाने की धमकी दे डालती थी। पश्चिम भारत के पुरतत्व-विभाग की अनुसंधान रिपोर्ट (खण्ड ४ पृ० ६० में) शालवाहन राजवंश की महाराणी बलश्री का शिलालेख उद्धृत है। उसमें यह घोषित किया गया है कि उसका पुत्र धर्मव्यवस्था के अनुसार कर लिया करता था। अन्य शिलालेखों से भी यह बात सिद्ध होती है। महाराज चन्द्रगुप्त को ही उदाहरण के रूप में लिया जा सकता है। उन्हें सेल्यूकस

के साथ युद्ध करने के लिए धन की आवश्यकता थी। उन्होंने और उनके महामात्य कौटिल्य ने इस धन को एकत्र करने के लिये अपना सारा बुद्धि-कौशल व्यय कर दिया—क्योंकि धर्म के अनुसार जो राज-प्राप्य था वह इस कार्य के लिये पर्याप्त नहीं था। चाणक्य ने इसके लिए कुछ विलक्षण साधनों का आश्रय लिया। उसने देव-मन्दिरों से भी चढ़ावे का धन एकत्र किया। कौटिलीय अर्थशास्त्र में यह राजकोष में धन लाने के चौदह स्रोतों में एक स्रोत माना गया है। किन्तु चाणक्य के इस कार्य से चन्द्रगुप्त को निन्दित होना पड़ा। संस्कृत-साहित्य में राजा को 'षष्ठांशवृत्ति' कहा गया है अर्थात् प्रजा की उपज का छठों भाग उसकी वृत्ति एवं कर था। प्राचीन काल में पहले राजा को देव माना जाता था। उसे इन्द्र, विष्णु, कुबेर आदि देवों का स्थान समझा जाता था अतः प्रजा उसे जो 'कर' देती थी वह मानों देव को देती थी। यह 'कर' दैवी सिद्धान्त की भित्ति पर आधारित था। परन्तु बाद में यह राजा का वेतन अथवा राजकर समझा जाने लगा जो उसे प्रजा की रक्षा के बदले में मिलता था। महाभारत शान्तिपर्व ७१।१० और नारद-स्मृति १८।४८ में बताया गया है कि षष्ठांश अथवा शुल्क अथवा आयात और निर्यात 'कर', अपराधियों से मिलने वाला जुर्माना, उनका अपहृत धन आदि जो कुछ शास्त्रों के विधानों से प्राप्त हो—वह सब 'राजकर' होगा और प्रजा की रक्षा करने के पुरस्कार स्वरूप राजा को मिलेगा। शुक्रनीति १।११८ में लिखा है कि ब्रह्मा ने राजा को यद्यपि स्वामी के रूप में बनाया है, परन्तु वह वस्तुतः प्रजा का सेवक है। प्रजा की रक्षा और वृद्धि के बदले में राजकीय कर के रूप में उसका भाग वेतन के रूप में मिलता है। प्रजा वास्तव में स्वामी थी और वह राजा का रक्षण करने के लिये बाध्य थी। राज्याभिषेक के समय भी यह वचन राजा को मिलता था कि उसका भाग उसे

मिलता रहेगा। मनु, गौतम, वसिष्ठ, आपस्तम्ब, विष्णु और बौधायन आचार्यों के अनुसार प्राचीन भारत में राज-कर चार उद्देश्यों पर आधारित थे। वे हैं—कृषि, पोषण, सम्पन्नता और क्षेम अथवा कल्याण। इनमें मुख्य 'कर' राजा के लिये वही था जो उसे कृषि की उपज में से दिया जाता था। बाज़ार में विकने वाले माल में उसका अंश एक दशमांश अथवा परिस्थिति के अनुसार इसके लगभग होता था। इसके अतिरिक्त राज-कर के और कतिपय साधन थे जो शुल्क कहे जाते थे। आजकल की परिभाषा में इसे आयात और निर्यात सम्बन्धी आय कहा जा सकता है। इनकी दर निश्चित करने में राजा को थोड़ी स्वतन्त्रता थी परन्तु उसका भी धर्मशास्त्र में नियन्त्रण कर दिया गया था। कौटिल्य अर्थशास्त्र ११।२ से प्रमाणित होता है कि चमड़े और परों पर 'कर' नहीं लगता था। नन्दों ने इन पर भी कर लगाये थे अतः उन पर दोष लगाया जाता है। मगध-साम्राज्य और हिमालय प्रदेशों में चमड़े और परों का व्यापार ज़ोरों से चलता था। देश में आने वाले इन पदार्थों पर कर लगाने के कारण चन्द्रगुप्त के पूर्वजों पर लोभी होने का अपवाद जनता ने लगाया। प्राचीन राजकीय कर-व्यवस्था के जो सिद्धान्त साधारणतः राजनीति और अर्थ-शास्त्र के ग्रन्थों में पाये जाते हैं, वे ये हैं:—

१—राज-कर को एकत्र करने में राजा को कभी तृष्णा और लोभ के बश में होकर अपना और दूसरों का मूलोच्छेदन नहीं करना चाहिए।
 २—प्रजा पर इस प्रकार कर लगाना चाहिए कि आगे चलकर उसमें भार-बहन करने की शक्ति बनी रहे। महाभारत १२।८७।२०-१ में इस बात को 'गौ' और वत्स की उपमा से प्रफुट किया गया है। ३—जिस राजा की प्रजा पर बहुत अधिक करों का भार होता है वह बड़े बड़े कार्य नहीं कर सकती। प्रजा उस राजा का विरोध करती है जो शासन में बहुत अधिक व्यय करता है। महाभारत ९७।१९ में ऐसे राजा को "अतिखादी"

शिक्षण-तरङ्गिणी

कहा गया है। संस्कृत-साहित्य में 'खादन' शब्द का व्यवहार पारिभाषिक रूप में राज-कर के लिये होता था। ४—प्रजा पर राज-कर ऐसा होना चाहिये जो भारी न जान पड़े। महाभारत में राजा को इस विषय में मधुमक्खी के समान नियम वर्तने का आदेश दिया गया है। ५—राज्य जब अधिक सम्पन्न होने लगे तब शनैः शनैः यथासमय राज-कर बढ़ाये जाने चाहिए। राज कर इकट्ठा करने के सम्बन्ध में भी कुछ विशेष नियम थे। उनमें से कुछ इस प्रकार हैं। १—कर उपयुक्त स्थान, उपयुक्त काल, और उपयुक्त रूप में लगाये जाने चाहिये। उनके संग्रह का ढंग कष्टदायक नहीं होना चाहिये। इस प्रसंग में महाभारत १२।८।४ में कहा गया है कि गाय का दूध दुह लेना चाहिए, उसके स्तन नहीं नोचने चाहिये। शिल्प आदि पर कर लगाने के ये नियम थे। १—कर लगाने से पूर्व इस बात पर विचार कर लेना आवश्यक है कि माल की तैयारी में कितना परिश्रम पड़ा है, उत्पादन की मात्रा कितनी है और ये कर अदा करने के बाद भी शिल्पी उस उद्योग को चालू रख सकेगा या नहीं? २—प्रत्येक शिल्प में कितना सामान लगता है, कितनी लागत पड़ती है, शिल्पी को उस वस्तु के बनाने में स्व-निर्वाह के लिए कितने धन की आवश्यकता होती है और उसकी परिस्थिति क्या है?

आयात-कर का सिद्धान्त इस प्रकार था : १—वाणिज्य सम्बन्धी वस्तु की बिक्री का मूल्य, क्रय का मूल्य, उसके आने की दूरी, आने का व्यय, लागत और व्यापारी को जोखिम कितना उठाना पड़ा आदि बातों के विचार के बाद कर लगाया जावे। २—राष्ट्र के लिये दुःखदायक, निरर्थक केवल शौक की वस्तुओं पर अधिक कर लगाकर उनका आयात बन्द करना चाहिए। ३—राष्ट्र को बहुत अधिक लाभ देनेवाली वस्तुओं को कर से मुक्त कर देना चाहिए। ४—अपने राज्य में कम मिलनेवाली अधिक उत्पादन की साधन-भूत वस्तुओं को भी बिना शुल्क आने देना चाहिए।

५—कुछ ऐसे भी पदार्थ परिगणित थे जिनका निर्यात वर्जित होता था। देश में उनका अधिक आयात करने के लिये किसी प्रकार का शुल्क नहीं होता था। यथा—अस्त्र-शस्त्र, धातु, सेवा कार्य के साधक रथ, यान आदि; अप्राप्य पदार्थ; अनाज और पशु आदि। ६—विदेश से आनेवाली और स्वदेश में बनने वाली सुरा आदि पर भी अधिक कर लगाया जाता था। राजा के इस 'कर' की मात्रा को मनु ने उपरोक्त प्रकार से कुछ बाज्जारी वस्तुओं पर निर्धारित किया था। पशु और सेना में पचास प्रतिशत, धान्यों में आठवाँ भाग अथवा छठा एवं बारहवाँ भाग।

राज-कर से जो आय होती थी, उस पर मंत्रिपरिषद् का पूरा-पूरा अधिकार होता था। उसको राज-कर एकत्र करने का भी अधिकार था। ईसा से पूर्व चतुर्थे शती तक आय-व्यय आदि पर मंत्रि-परिषद् का अधिकार होना प्रमाणित होता है। मेगस्थनीज ने भी इसे स्वीकार किया है। वेदों के प्रचार काल में “रत्नी” कोषाध्यक्ष होते थे। ये भी इस प्रकार के अधिकार से युक्त अधिकारियों के एक पूर्वरूप थे। देवगिरि में शासन करनेवाले यादवों के समय के भी प्रमाण मिलते हैं कि इन्होंने चावल, पान, इलायची आदि पर कर लगाये थे। शिला-लेखों और महाभारत तथा अन्य ग्रन्थों के परिशीलन से इस प्रकार की कर-व्यवस्था का पता चलता है। राज्य कर के बिना चल नहीं सकता परन्तु कर भाररूप और अनुचित नहीं होना चाहिए—यही इस व्यवस्था का सार प्रतीत होता है।

विचार—दर्शन

‘बाद’ वे शक्तिशाली साबुन के बुलबुले हैं जिनसे विज्ञान के प्रौढ़ विद्वान् ही अपना मनोविनोद कर सकते हैं। सर्वसाधारण तो उनमें से केवल विचारों की शृङ्खला का ही चयन कर सकता है। वास्तव में मनुष्य का मस्तिष्क ही विचार का पुंज है। वह विचारवान् प्राणी होने से प्रत्येक क्षण इसके क्षेत्र में विचरता है। प्रत्येक मनुष्य के विचार में कुछ कुछ न कुछ आकर्षण होता है। किसी में अधिक मात्रा में तो किसी में न्यून। जिसके विचार में जितना ही आकर्षण होता है, वह उतना ही अधिक प्रभाव उत्पन्न कर सकता है और अधिक मात्रा में व्यक्तियों को अपनी ओर आकृष्ट कर सकता है। लेखक, अध्यापक, संपादक, वक्ता, नेता और कनवेसर्स आदि में इस विशेष गुण की आवश्यकता है। इनके विचार में जितना ही आकर्षण होगा उतना ही ये अपने कार्य में अधिक सफल होंगे। संसार में किसी में यह विचार शक्ति विकसित हो जाती है और किसी में नहीं परन्तु सम्भावना प्रत्येक में इसके विकास के लिये प्रतिक्षण विद्यमान है। जिस प्रकार विविध विज्ञानों का अध्ययन करना आवश्यक और रुचिकर है उसी प्रकार विचारों का अध्ययन भी। विचार वस्तुतः मानव में एक आकर्षक अयस्कांत है। इसे ही व्यक्तिगत आकर्षण के नाम से भी व्यवहार में लाया जाता है। यह आकर्षण मनुष्य के चैतन्य के साथ निहित है। यह शक्ति प्रत्येक क्षण में मनुष्य के मस्तिष्क से

निकलती है और दूसरे प्रभावित होते रहते हैं। मानव-मस्तिष्क इसकी तरंगें उत्पन्न करता है जो सदा प्रवाहित होती हैं। इन तरंग-प्रवाहों का बलाबल इनके साधन और करण के बलाबल के अनुरूप ही होता है। प्रभावित किये जाने वाले मानवों का मस्तिष्क एक प्रकार का दुर्ग है। उस दुर्ग में शक्तिशाली विचार तरंगों की धारा ही प्रवेश पाती है। निर्बल धारायें प्रवेश न पाकर वापस आ जाती हैं। मनुष्य जो भी विचार उत्पन्न करता है वह ध्वनि की तरंगें अवश्य उत्पन्न करता है चाहे वह कितना ही सशक्त अन्यथा अशक्त क्यों न हो। उसकी परिधि में जो भी आवेगा किसी न किसी रूप से न्यून अथवा अधिक अवश्य प्रभावित होगा। स्थिर जल पर किसी ढेले को फेंकने पर जिस प्रकार वीचियों की तरंगें पैदा होती हैं, उसी प्रकार विचारों की भी होती है। यही कारण है कि एक मनुष्य के विचार से दूसरा प्रभाव में आता है। मनुष्य के विचार दूसरे को ही प्रभावित करते हैं ऐसा नहीं, वे स्वयं पर भी प्रभाव डालते हैं। मनुष्य अपने हृदय में जैसा सोचता है वैसा ही वह बनता है। जैसा वह मन में सोचता है वैसा ही वाणी से व्यवहार करता है। जैसा व्यवहार करता है वैसा ही कर्म करता है और जिस प्रकार के कर्म हैं, तदनुरूप ही वह बनता है। यह उक्ति ठीक ही है कि मनुष्य अपने मनो विचारों की उपज है। मनुष्य का मस्तिष्क भी दो प्रकार का होता है। बाह्यज्ञान-प्रधान और आभ्यन्तर-ज्ञान-प्रधान। इनके कार्य भी दो तरह के होते हैं— सक्रिय और प्रतिक्रिय। पहले प्रकार के मस्तिष्क को विश्राम लेने की आवश्यकता पड़ती है। परन्तु दूसरे प्रकार का मस्तिष्क निरंतर कार्य करने के स्वभाव वाला है। वह थकता नहीं। पहले का कार्य आत्मा की प्रेरणा से होता है और नाड़ियों को बहुत परिश्रम करना पड़ता है। दूसरे को ऐसा नहीं करना पड़ता। वह सदा एक सा ही परिश्रम करता है। पहले के विचार स्वतन्त्र होते हैं जबकि दूसरे के विचार पहले के परतन्त्र होते

हैं। मनुष्य जो कुछ सम्मति दूसरे को देता है, वह भी एक निश्चित विचार का रूप है। सम्मति की भी तीन श्रेणियाँ हैं। किसी सम्मति का कायम करना, किसी सम्मति का आचरण करना और किसी सम्मति का प्रकट करना। जहाँतक सम्मति के कायम करने और आचरण में लाने का सम्बन्ध है मनुष्य अधिकांशतः उनमें स्वतन्त्र है। वह जैसी सम्मति बनाना चाहे अथवा उस पर आचरण करना चाहे या न करना चाहे कर सकता है। परन्तु सम्मति के प्रकट करने में उसे परतंत्रता है क्योंकि उसका प्रभाव समाज पर पड़ा करता है। प्रत्येक व्यक्ति समाज का अङ्ग है। उसे कोई ऐसी सम्मति दी नहीं जा सकती जो समाज के लिये किसी भी हालत में हानिकर हो। यह परतंत्रता ही वास्तव में विधान के रूप में परिवर्तित हो गई। हर क्षेत्र के विधान दो प्रकार के हैं शास्त्रीय और राजकीय। सत्य बोलना चाहिए झूठ नहीं, और ऐसा सत्य नहीं बोलना चाहिए जो अप्रिय हो इत्यादि शास्त्रीय विधान इसी रहस्य पर आधारित हैं। मनुष्य किसी अन्याय के प्रति अपनी सम्मति प्रकट कर सकता है, यह उसका मानवीय अधिकार है परन्तु यदि उसकी सम्मति के प्रकटीकरण से समाज में अशांति फैलती हो, समाज की व्यवस्था भंग होती हो तो वह ऐसी सम्मति नहीं प्रकट कर सकता, यह राजकीय विधान का क्षेत्र है। आज अवैध भाषणों आदि पर जितना प्रतिबन्ध लगाया जाता है वह इसी नियम पर आधारित है। यदि विचार की स्वतन्त्रता को नियंत्रित न किया गया होता तो कोई भी मनुष्य संसार में शांति का जीवन नहीं व्यतीत कर सकता था। प्रत्येक की स्वतन्त्रता का परिणाम विशाल मानव परिवार के लिये हानि का विषय बन जाता। विचार को किस प्रकार प्रकट करना चाहिये इसके दो रूप हो गये। उनमें से प्रथम ने शिष्टता का रूप धारण किया जिससे कर्तव्य आदि के विचार उठे। दूसरे ने विचार को प्रकट करने की निपुणता का स्वरूप अपनाया। यह ही

एक कला के रूप में विकसित हो गया। इसीसे साहित्य काव्य आदि की भावनाएँ बनीं। विचारों को प्रकट करने में यदि वैचिती न आती तो कला और साहित्य का प्रसार न होता। भावात्मक दृष्टि से, ही विचारों का मूल्य है ऐसा नहीं। इसका दार्शनिक अंचल भी है। विचारों को विशुद्ध-लित न रहने दिया जावे और संक्षेप में नियमित-रूप से कोई विचार प्रकट किया जा सके—इस महान् अन्वेषण ने मानव-मस्तिष्क को एक विज्ञान की तरफ प्रेरित किया। यह विज्ञान विचारों का विशुद्ध विज्ञान कहा जाता है। उसे ही आज हम तर्कशास्त्र के नाम से पुकारते हैं।

अंकगणित जहाँ काल का सन्निकृष्ट विज्ञान है, रेखागणित विशुद्ध देश का सन्निकृष्ट विज्ञान है, वहाँ तर्क विचारों का विशुद्ध विज्ञान है। भाषा भी एक प्रकार का विचार ही है। बाह्य विचारों का नाम भाषा और आन्तरिक विचारों का नाम विचार है। भाषा बाह्य विचार है और विचार आन्तरिक भाषा है। यदि मनुष्य को अपने विचार को किसी पर व्यक्त करने की आवश्यकता न होती तो भाषा की आवश्यकता ही न पड़ती। मानव-चेतना में जहाँ विचार हैं वहाँ भाषा भी है। विचार मनुष्य को दूसरे से भी मिलता है और अपने मन में भी उसका उद्भव होता है। परन्तु जहाँ विचार को हम अपने स्वयं से बाहर की ओर ले जाते हैं वहाँ हम भाषा के क्षेत्र में पहुँच जाते हैं। भाषा और विचार की समस्या आदिम मनुष्यों में कैसे समन्वय खावे, इसके लिये ही वास्तव में संप्रदायों को ईश्वर-प्रेरणा और इलहाम पर बल देना पड़ा। यदि आदिम मनुष्य को विचार परमेश्वर से प्राप्त होते हैं तो भाषा तो विचार का ही रूप है, वह भी उसी प्रेरणा से प्राप्त हुई होगी। यह विचार प्रायः सभी “धर्मों” में पाया जाता है। ज्ञान अनुभव और आन्तरिक स्वाभाविक प्रज्ञा का फल है। यह ज्ञान भी विचार के रूप में ही मनुष्य में विद्यमान है। बिना विचार के ज्ञान का होना देखा नहीं जाता। कोई

भी अनुभूति जब तक विचार के रूप में नहीं पहुँच जाती, ज्ञान का रूप नहीं धारण कर पाती है। अनुभव को विचार की अवस्था तक पहुँचने में कई स्थितियों से गुजरना पड़ता है। इसलिये ज्ञान भाषा और विचार परस्पर ओतप्रोत हैं। विचारों के आदान प्रदान से भी परस्पर हम सभी को परिज्ञान होता रहता है। पूर्व से ही कोई भावना या धारणा बना रखना इस विचार-विनिमय के मार्ग में बहुत बाधक है। इससे मनुष्य दूसरे के विचार की परिधि में आने से ही हटता फिरता है और हृदय में दूसरे के विचार को ग्रहण करने की जो इच्छा है, जिसे जिज्ञासा भी कहा जा सकता है, समाप्त हो जाती है। विचार में जहाँ आकर्षण है वहाँ ग्रहण करने वाले की यह ग्रहण न करने की पूर्वनिश्चित धारणा उसकी प्रतिरोधक है। शिक्षा और संप्रदाय के क्षेत्र में यही धारणा अत्यन्त बाधक है। जिज्ञासा के अभाव से शिष्य में सीखने की भावना जाती रहती है। अजिज्ञासु व्यक्ति कभी भी किसी चीज़ की शिक्षा ग्रहण करने में समर्थ नहीं हो सकता। यही हाल सत्य की खोज के विषय का भी है। जो अपनी एक पूर्व-धारणा बना चुका है वह सत्य के ढूँढने का आदी नहीं। पूर्वनिश्चित धारणा खोज की विरोधी है। साहित्य के क्षेत्र में विचार का समन्वय सहृदयता से करना पड़ता है। सहृदय में ही कवि-कर्म और साहित्यिक कर्म का अभ्युदय होता है। प्रत्यक्ष संसार को देखते सभी हैं, सभी अनुभव करते हैं और विचारसर्जन करते हैं परन्तु कलात्मक कृति का उद्भव सहृदय में ही होता है। साहित्यदर्शन के विशारदों ने सहृदयता को बहुत उच्च स्थान दिया। असहृदय में जगत् के निरीक्षण करने पर भी रसाविर्भाव नहीं हो पाता और न व्यञ्जनावृत्ति ही जागरूक होती है। यही कारण है कि विचार के साथ सहृदयता परमावश्यक है। जरन्मीमांसक और तर्ककर्कश नैयायिकों में इसीलिए रसावबोधाभाव दर्शाया गया है। कार्यकारण-विवेचना का दर्शन जगत्

को क्षणिक और दुःखमय बतलाता है परन्तु काव्य-दर्शन का पथिक कवि उसे सौन्दर्यमय और आनन्दमय रूप में दिखलाता है। उसकी सौन्दर्यानुभूति से उत्पन्न विचार लोगों को विश्व का दर्शन एक दूसरे ही रूप में कराते हैं। उपनिषदों का यह विचार ठीक ही है कि आदित्य की प्रतिष्ठा नेत्रों में है और नेत्र रूपों में प्रतिष्ठित है। रूपों का प्रतिष्ठान हृदय में है। संसार के रूप और सौन्दर्य को मनुष्य हृदय से देखता है और उसकी अभिव्यक्ति भी हृदय से ही करता है।



भारतीय साहित्य में मेघ

मेघ का स्वाभाविक दृश्य किस सहृदय के हृदय को आल्हादित नहीं करता ? श्रावण और भाद्रपद की कृष्ण-घटा और चमकती विद्युत् की अन्तरालवर्त्तिनी छटा डरावनी होती हुई भी एक नवीन स्फूर्ति को हृदय में जागरूक करती है। कविहृदय इसके स्वाभाविक वर्णन और परिणामों के अभिव्यक्तिकरण के लिये सहज प्रेरित हो उठता है। मनोविज्ञान के अनुसार मानव-चेतना में ज्ञान, प्रयत्न और इच्छा का सन्निवेश है। मानव-चैतन्य जहां बाह्य-प्रकृति का अपने चारों तरफ निरीक्षण कर अनुभूतियों का चयन करता है, वहां वह उसे अभिव्यक्त भी करना चाहता है। उसकी इस अभिव्यक्तीकरण की वृत्ति को अभिव्यंजना कहा जाता है। यही अभिव्यंजना वस्तुतः समस्त कलाओं और कृतियों की जननी है। विज्ञान और दर्शन भी इसी के परिणाम हैं, परन्तु वे कला नहीं।

साहित्य का सृजन करने वाले साहित्यिक और कविजन कला को मुख्यतः अभिव्यंजनावृत्ति का एक अद्भुत परिणाम मानते हैं। प्रकृति का यह दर्शनीय देव मेघ कलात्मक प्रतिपादन में कवियों द्वारा विचित्र रूप में ही उपस्थित किया गया है। वैदिक-साहित्य से लेकर आज तक के विशाल हिन्दी-साहित्य में मेघ का बहुत ही मनोज्ञ वर्णन हमें प्राप्त होता

है। वैदिक साहित्य में भी मेघ और वर्षा का वर्णन बहुत ऊँचे स्तर का मिलता है। कालिदास ने मेघदूत में मेघ को एक दूत के रूप में प्रस्तुत कर साहित्य-जगत् को एक महान् देन दी है। हिन्दी-साहित्य भी इससे भरा पड़ा है। घन के प्रचण्ड घमण्ड का वर्णन तुलसीदास ने भी किया और आगे पता नहीं कितने कवि और लेखक बराबर करते रहेंगे।

यदि हम सारे साहित्य का मन्थन करे और मेघ के विषय के वर्णन का विवेचन करें तो पता लगेगा कि मेघ के विषय का विज्ञान हमारे कवियों और लेखकों को बहुत ऊँचे दर्जे का था। वे मेघ-विज्ञान के अन्तर्निवेश में पहुँच चुके थे। उन्होंने रोचक वर्णनों से केवल प्रकृति के दृश्य को ही स्वाभाविक रूप में नहीं प्रस्तुत किया अपितु वैज्ञानिक और दार्शनिक दृष्टि से भी मेघ-तत्व का विशद विवेचन किया। समूचे विवेचन में चार प्रकार की दृष्टियाँ दृष्टिपथ में आती हैं। वे हैं—वैज्ञानिक, दार्शनिक, ऐतिहासिक और कलात्मक एवं साहित्यिक। वैदिक-साहित्य में मेघ का वर्णन काल्पनिक इतिहास के स्तर का होते हुए भी उसमें शेष तीनों का समन्वय है। इन्द्र और वृत्र के युद्ध में जहाँ मेघ का विज्ञान है, दार्शनिक विश्लेषण है, वहाँ उसमें कला भी है। इन्द्र और वृत्र के युद्ध के सूक्तों के अध्ययन से वीर-रस का भटिति संचार सहृदयों के हृदय में होने लगता है। विशेषतः वैदिक-साहित्य में मेघ के लिए मेघ, वृत्त, वराह, धूमयोनि आदि अनेक नाम दिये गये हैं। लौकिक साहित्य में अम्बुद, अम्बुवाह, पयोद, पयोमुक् आदि नाम हैं। वर्षा के द्वारा पृथ्वी को सिक्त करने वाला होने से वह जहाँ मेघ है वहाँ आच्छादक होने बढ़ते रहने, आदि के कारण उसका नाम वृत्र है। यह नाम ऐतिहासिक कल्पना का भी आधार है। वराह नाम में एक महान् वैज्ञानिक भाव छिपा है। धूमयोनि इसलिये है कि यज्ञ अथवा रासायनिक बाष्पमयकरण ही मेघ का कारण है। अम्बुद आदि नाम जल के वृष्टि द्वारा दाता होने से मेघ

में चरितार्थ है। इसके अतिरिक्त कालिदास ने इतने ही पर सन्तोष न कर मेघ को साधु, सौम्य, सुभग, आयुष्मान् और ब्रह्मचारी कहा है। उसका मेघ केवल वैज्ञानिक, दार्शनिक, ऐतिहासिक मेघ ही नहीं, बल्कि वह एक विरहणी का संदेशहर है। अच्छे सन्देशहर के सभी गुण उसमें होने ही चाहिए।

वैज्ञानिक दृष्टि से मेघ का विवेचन हमारे साहित्य में दिखलाया गया है कि अग्नि से धूम पैदा होता है। धूम से अभ्र और अभ्र से विद्युत् वृष्टि करती है। वृष्टि का कारण मेघ नहीं अपितु विद्युत् है। मेघ वस्तुतः क्या वस्तु है, इसका उत्तर दिया गया है कि वह धूम, ज्योति, जल और वायु का जमघट है। साथ ही और भी स्पष्टीकरण करते हुए उसे जलों की भस्म कहा गया है। सूर्य के प्रचण्डताप के संयोग से जल धूम अर्थात् वाष्पमय होकर मेघ-रूप में परिवर्तित होता है और मेघ बनकर पुनः पर्जन्य-रूप में बरसता है। मेघ होने से यह सिंचन की योग्यतावाला है, जलों को अपने अन्दर धारण करने से अभ्र तथा 'ईरावान्' समुद्र से जन्म लेने के कारण ऐरावत है। अभ्र होते हुए हाथी से उपमित होने के कारण अभ्रमातंग भी मेघ ही है। विद्युत् को जलों एवं मेघों की ज्योति कहा गया है। बृहत् ज्योतिःसार में मेघ के भेदों को बतलाते हुए आवर्तक, संवर्त, पुष्कर और द्रोण संज्ञाएं मेघों को दी गई हैं। आवर्तक मेघ में बड़े-बड़े भंवर होते हैं, संवर्त में जल का संचय होता है। पुष्कर में चित्र-विचित्र वृष्टि होती है और द्रोण-संज्ञक मेघ अपरिमित जलराशि वाले होते हैं। वेदों में वृत्र महान् मेघों का नाम है। इसके जल को बरसाने के लिए इन्द्र बराबर संग्राम करता है और पक्षों को काटकर वृष्टि करता है। वैदिक भाषा में मेघ का नाम 'पर्वत' भी है अतः इन्द्र की उपाधियों में 'पर्वतपक्षशासन' पद भी नितराम् सार्थक ही है। वनमुचि और नमुचि भी वृत्र के साथीमेघ ही हैं। वन नाम जल का है। जो मेघ जल को

आसानी से छोड़ते हैं वे वनमुचि हैं, और जो नहीं छोड़ते, जल को बांध रखते हैं उनका नाम 'नमुचि' है। इनसे जल को छुड़ाने के लिए ही इन्द्र इनके शिर का छेदन करता है। ये मेघ जहां सूर्य की किरणों से बाष्प उठ कर बनते हैं, वहां कृत्रिम मेघ भी बनाये जा सकते हैं ऐसा भी वर्णन मिलता है।

दार्शनिक दृष्टि से मेघ का वर्णन भी हमारे साहित्य में बहुत उच्च स्तर का है। वेदों में मेघ को 'वराह' कहा गया है। यह सूर्य के तेज का आच्छादक है, इसलिये इसे 'वराह' कहा जाता है। सृष्टि के प्रारंभकाल में संतप्त सूर्य की संज्ञा हैमाण्ड, हिरण्यगर्भ, और हिरण्याक्ष है। यह जब तक अपनी इस प्रचण्डता को छोड़ता नहीं तब तक पृथ्वी आदि लोक-लोकान्तरों का इसी में अन्तर्भाव रहता है। उसके इस तेजोमय शरीर से सृष्टि का प्रकरण आगे चलता है। उसके चारों ओर तैजस वाष्पीय मेघ घेर लेते हैं। इस प्रकार इनके आवरण से जब उष्मा का हास हो जाता है तब सूक्ष्म तैजस बाष्प स्थूल जल आदि के रूप में परिणत होकर गुरु तत्वों के संयोग से पृथ्वी का विकास होता है। इसी कारण इस पृथ्वी को वाराही भी कहा जाता है। विज्ञान के अनुसार सूर्यवर्ती विद्युत्फुलिगी तत्व यूरेनियम आदि को अपने रूप के क्रमिक परिवर्तन से स्थूल धातु की आकृति तक पहुंचने में लक्षों वर्ष का समय लगता है। यही वस्तुतः हमारे साहित्य का वाराह-कल्प है। भारतीय दर्शन में आत्मा की तुरीय, सुषुप्ति, स्वप्न और जाग्रत-येचार अवस्थायें मानी गई हैं। इसी से मिलती जुलती ब्रह्माण्ड-व्यापी चेतना विराट् दशा की भी चार दैनिक स्थितियां हैं। वे हैं—ब्रह्म, ईश, हिरण्यगर्भ और विराट्। हिरण्यगर्भ दशा से विराट् में आने के लिए वाराह की आवश्यकता होती है। हिरण्यगर्भ की स्थिति में प्रकृति-तत्त्व संचित रहता है। उस विद्युन्मदोहधि में अपने आपको विस्तार में लाने की शक्ति अपने भीतर से ही 'उद्भूत' होती है।

मनुष्य को शक्तिशाली और आयु वाला बनने के लिए इस शक्ति को अपने अन्दर संचित रखना चाहिए। उसे ऊर्ध्वरेता होना चाहिए अधोरेता नहीं। अन्यथा सब कुछ धूल में मिल जाता है। यही बात मेघ के लिए भी है। जब तक वह जल को अपने अन्दर संचित किये हुए है उसमें तेज, शक्ति है और उसकी आयु है। जहां वह जल अधोमुख होता है मेघ की आयु समाप्त हो जाती है। इस प्रकार मेघ को कवि ने सुभग और सौम्य, साधु, ब्रह्मचारी आदि जो भी विशेषण यत्न के मुख से दिलाये हैं—वे सर्वथा मेघ के अनुरूप ही हैं। संक्षेप में यह है हमारे साहित्य का मेघ।



विज्ञान-क्षेत्र में भारत की अमर देन

एक लम्बा काल बीता । विश्व के रंगमंच पर विविध परिवर्तन हुए । पुराने अन्धकारों को काटकर विज्ञान चमकता हुआ अपने पूर्ण यौवन पर पहुँच चुका है । देश और काल की दूरी को मानव मस्तिष्क ने समाप्तप्राय कर दिया है । भौतिक विज्ञान के इस चाकचक्य को देखते हुए दो चार शतियों से भी पूर्व की बात सोचना कठिनाई और समालोचना का पात्र बनना सम्भवा जाता है । परन्तु सत्य की खोज तो सदा होती रही और होती रहेगी । विज्ञान के इस पूर्णता की पृष्ठभूमि भी तो कहीं रची ही गयी होगी । मानव-मस्तिष्क यदि पटरी और पहियों के माध्यम से पृथ्वी पर दौड़ सकता है, आकाश में विमान के रूप में उड़ सकता है और पानी में तैर सकता है, हवा में देश की दूरी को दूर करता हुआ वाणी को निकटतम बना सकता है, तो उसने इनके प्रारम्भिक कारणों पर भी तो बुद्धि का आयाग किया ही होगा । विज्ञान के साधन तो सदा परिवर्तित होते रहे, प्रासाद गिर गये, हड्डियाँ पृथ्वी में सड़ गयीं, सागर जहाँ था वहीं पृथ्वी निकल पड़ी, जहाँ पहाड़ थे वहाँ सागर लहराता दृष्टिगोचर होने लगा परन्तु मानव मस्तिष्क के आयाग का इतिहास अब भी सुरक्षित है । इस इतिहास में भारत का भी एक स्थान है, नहीं नहीं प्रत्येक विज्ञान-विद्या के स्कन्धों में भारत के प्रकाशस्तम्भ अब भी प्रकाशित हो रहे हैं । पृथ्वी के विशाल प्रागण में जिस प्रकार विज्ञान का

इतिहास अमर है, उसी प्रकार भारत की ज्ञान-ज्योति भी अमर है। आज का भारत भूखा नंगा, क्षत, तंगदस्त और आपत्ति-ग्रस्त भले हो परन्तु भूत भारत ने अपनी ज्ञान-गरिमा से प्रत्येक दिगन्तराल के मानवों को चकित किया है। उसकी प्रशस्ति का गीत संसार अब भी गाता है।

भारतीय धर्मशास्त्र के प्रणेता मनु का कथन है कि धरा के सभी देशों और लोगों ने भारत से सभ्यता और ज्ञान का पाठ सीखा। महाशय ग्रिन्सेप ने बताया कि ईसा से ८ शती पूर्व भारतीय लोग द्रव्य-विनिमय की योजना को सुव्यवस्थित रूप में जानते थे। वे एक प्रशस्त शासन-प्रकार का विकास कर चुके थे जो कि समय के सर्वथा अनुरूप था। उनके द्वारा आधारित विधानों ने ही मिस्र, ईरान, यूनान और रोम के विधान संप्रदों के प्रारूप रचे। महाशय कोलमैन, डाक्टर राबर्टसन और प्रोफेसर विलसन भारतीय विधान विज्ञान की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं। सामाजिक-संघटन भी भारत में बड़े व्यवस्था के रूप में एक उदाहरणीय वस्तु था। प्रत्येक की स्थिति उसकी योग्यता, आचार और कार्य पर आधारित थी। आदर्श और आचार का मान-दण्ड भी प्राचीन भारतीयों का इतना उच्च था कि वे कर्तव्य के समक्ष जीवन और मरण का भय तुच्छ समझते थे। प्रोफेसर मैक्समुलर ने इस तथ्य को भली प्रकार स्वीकार किया है। शिक्षा और दीक्षा का पता तो यहां के नालन्दा, तक्षशिला, श्रीधान्य और कटक आदि विश्वविद्यालयों से सुस्पष्ट हैं। विद्या का कोई विभाग ऐसा नहीं था जिसमें पर्याप्त मात्रा में अध्ययन न किया गया हो। भारतीय संस्कृत-भाषा की प्रशस्तता पूर्णता को दिखलाते हुए डाक्टर वैलेण्टाइन तथा बाप ने स्वीकार किया है कि संस्कृत किसी समय समस्त भूमण्डल पर बोली जाती थी और सारी भारतीय योरोपीय भाषा परिवारों की यह माता है। अक्षरविन्यास-कला आर्यों को बहुत पहले से परिज्ञात थी और २८०० वर्ष ईसा से पूर्व तथा ८०० वर्ष इब्राहम से पूर्व

ये लोग धर्म की लिखित पुस्तकें रखते थे। मैक्समुलर इस विचार के समर्थक हैं कि वैदिक-वाङ्मय मानव-जाति की शिक्षा का हमारे समक्ष एक नया प्रकरण खोलते हैं। यजुर्वेद जब फ्रांस के दार्शनिक वोल्टायर को भेंट किया गया तो वह आश्चर्यचकित हो बोला यह वह अमूल्य भेंट है जिसके लिये पश्चिम पूर्व का चिर ऋणी रहेगा। जिगाल्ट के अनुसार ऋग्वेद मानवता के उच्चतममार्ग के विचारों से ओतप्रोत है। ऑक्सफोर्ड के प्रसिद्ध प्राध्यापक मैकडानल का विचार था कि भारतीयों द्वारा प्रदर्शित भाषा के नियमबद्ध विश्लेषण उन सभी राष्ट्रों और जातियों के इस विषय के परिणामों से आगे बढ़े हैं, जिन्होंने इस पर कोई परिणाम निकाला है।

इंगलैण्ड के महान् ग्रामेरियन मोनियर विलियम ने भारतीय महावैयाकरण पाणिनि के सम्बन्ध में विचार व्यक्त करते हुए माना है कि भारतीय व्याकरण के समकक्ष का व्याकरण-पटल संसार के किसी देश ने नहीं उत्पन्न किया। इस प्रकार मौलिकता और सर्वाङ्गीणता अन्यत्र देखने को नहीं मिलती। पाणिनीय सूत्र एक पूर्ण आश्चर्य हैं। काव्यकला में भी भारत का शान्ति कोई देश नहीं हुआ। रामायण और महाभारत जैसी कृति इस दिशा में और किसी जाति में नहीं मिलती। प्रिफिथ ने लिखा है कि इस प्रकार का समुन्नत काव्य और साथ ही नैतिकता का सुन्दर सन्निवेश अन्यत्र कहीं उपलब्ध नहीं। होमर के “इलियाड” की अपेक्षा रामायण तीन गुणा और महाभारत बारह गुना विशाल और विस्तृत हैं। पश्चिम के बड़े-बड़े विद्वानों के विचार को कालिदास और भवभूति की रचनाओं ने चकित कर दिया है। हिन्दू लोगों के नाटकों के विषय में सर विलियम जोन्स ने प्रकट किया है कि ये वर्तमान योरुप के किसी भी देश के एतद्विषयक संग्रह से कई गुना अधिक हैं। अध्यापक हारीन के अनुसार भारत में प्राप्त नाटक योरुपीय रंगमंच पर लाये जा

शिक्षण-तरङ्गिणी

सकते हैं और उन्हें सरलता से कामेडी, ट्रेजिडी, ओपेरा, बैलेट, बल्लेटा, मेलोड्रामा और फार्स के शीर्षकों से युक्त किया जा सकता है। अभिज्ञान-शाकुन्तल को पढ़ते हुए जर्मनी का महान् दार्शनिक कवि गोयथे गानतरंगों में मस्त होकर बोल उठा कि—क्या तू अभिनव-न्तरण वर्ष की खिली कलिका हो अथवा उसके पतन समय का परिपक्वफल हो। एवं तू वह सब कुछ है, जिसके द्वारा आत्मा आनन्दित कुतूहलित, सन्तुष्ट और सौन्दर्य सुन्दर होता है। क्या तेरे एक नाम में ही ही भूमि और स्वर्ग का सम्मिलन है। ऐ शकुन्तले ! मैं तो इसे सब कुछ ही का अभिधान समझता हूँ। शाकुन्तल की भूमिका ने ही उसकी महान् कृति “फास्ट” को रंगमंच पर लाने की पूर्वपीठिका बनाई। कालिदास की सराहना में हारीन ने कहा है कि इन्होंने केवल अपने ही देश की प्रतिष्ठा को नहीं बढ़ाया, अपितु समस्त सभ्यमानव समाज को समादृत किया। मेघदूत और गीतगोविन्द की भी बड़ी प्रशंसा विद्वानों ने की है। मेघदूत को टानी ने कला की पूर्णकृति कहा है। महाशय फाश का विचार है कि इस के समान वियोगात्मक साहित्य की कृति योरुप के साहित्य में नहीं है। कहानी और काल्पनिक गाथाओं के विषय में भारतीयों को शेष मानव जाति का शिक्षक माना गया है। पंचतन्त्र की शानी दुनियाँ के साहित्य में कोई कृति नहीं। इसका अनुवाद, अरबी, फारसी, ग्रीक, स्पैनिश, हिब्रू, चीनी आदि भाषाओं में पाया जाता है। इस पर आश्चर्य व्यक्त करते हुए प्रो. लेसेन पेरिस ने बतलाया है कि ‘अरेबियन नाइट’ भारतीय मूल है। भारतीयों को दार्शनिक जाति माना गया है। भारतीय दार्शनिक धारा में संसार की समस्त दार्शनिक प्रक्रियाओं का मूल है। यहां का दर्शन बहुत विस्तृत और समुन्नत है। काण्ट, प्लेटो और अफलातून आदि के विचार इनमें ही डूब जाते हैं। उपनिषदों की महिमा शोपेनहार जैसे तार्किक गाते नहीं थकते। भारतीय तर्क, मनोविज्ञान और कर्तव्यमीमांसा

विज्ञान को पश्चिम के विपश्चितों ने पूर्ण बतलाया है। काउण्ट जान्सजर्न ने लिखा है कि भारतीय, यूनान और रोम के दार्शनिकों से बहुत आगे बढ़े थे।

डाक्टर आनफील्ड ने कहा है कि हिन्दू लोग शिक्षक थे शिक्षणीय नहीं। पैथागोरस, एनेक्सागोरस, पीरो और दूसरे यूनान के प्रसिद्ध दार्शनिकोंने ज्ञानार्जन के लिये भारत की यात्रा की थी। मोनियर विलियम का यह विचार है कि पैथागोरस और प्लेटो आत्मा के पुनर्जन्म को मानते थे और यह विचारधारा उन्हें भारतीयों से मिली। सांख्यप्रक्रिया ने दूसरी शती में यूरोप के ख्रीस्तीय विज्ञानवाद को प्रभावित किया। यहाँ के वेदान्त पर शोपेनहार, मोक्षमुलर आदि मुग्ध थे। श्री एम्पथिल ने यह स्वीकार किया है कि सफाई और स्वास्थ्य की व्यवस्था का मनु ने प्रचार किया और भारतीय लोगों को स्वास्थ्यात्मक तथा निरोधात्मक दोनों प्रकार की औषधियां ज्ञात थीं। भारतीय आयुर्वेद वस्तुतः सभी अंशों में परिपूर्ण था। चरक और सुश्रुत के आधार पर बगदाद के खलीफा ने औषधियों का प्रथम निर्माण कराया था। योहपीय औषधियां अरबी औषधियों की नकल हैं और अरबों ने इसे भारत से लिया। डाक्टर विलियम हग्टर आदि विद्वानों ने इसे मुक्तकण्ठ से स्वीकारा है। यहां के औषधिसंग्रह में धातुज वनस्पति आदि सभी औषधियां सन्निविष्ट हैं। नाक और कान का आपरेशन भारतीय संसार में सर्वप्रथम करते थे और कृत्रिम कान तथा नाक बनाकर लगाते थे। यूरोप ने यह उधार भारत से लिया है। ये लोग विविध प्रकार के आपरेशन करते थे और शल्य-क्रिया में इनका ज्ञान पूर्ण था। इसके अनुसंधान में मुर्दे की चीड़-फाड़ और सन्ततिजनन सम्बन्धी आपरेशनों को वर्ता जाता था। बेनर एल्फिन्स्टन आदि ने मुक्तकण्ठ से इसे स्वीकार किया है। भारतीय शस्त्र-क्रिया में आपरेशन के १२७ औजारों का प्रयोग होता था। म. मेनिंग ने लिखा है

कि ये औजार इतने तीव्र होते थे कि बाल को भी विभक्त कर सकते थे। अश्व-चिकित्सा का ग्रन्थ शालिहोत्र प्रसिद्ध है। इसमें घोड़ों की चिकित्सा का पूरा विवरण है। इसी प्रकार अन्य पशुओं की चिकित्सा भी होती थी। लखनऊ में रायल पुस्तकालय में फारसी अनुवाद की हस्तलिपि १३८१ ए. डी. की मौजूद है। यह शालिहोत्र का फारसी अनुवाद है। इसमें अश्व-चिकित्सा के विविध विषयों के ११ प्रकरण हैं। भारत प्रथम देश है जहां पर अस्पताल की सर्वप्रथम स्थापना हुई। यह १० वीं सदी में खोला गया था। भूरवे का अस्पताल पैरिस में इससे लगभग सात वर्ष बाद स्थापित किया गया।

भारतीयों ने ही गणित का विस्तार किया। इस विज्ञान में इनकी दक्षता सराहनीय है। जर्मन के समालोचक श्लेगल ने लिखा है कि दशमलव शून्य का ईजाद भारतीयों ने किया। अंक को भी भारतीयों ने संसार को दिया। मैनिंग का कथन है कि हिन्दू गणितज्ञ गणित के सभी विभागों में दक्ष थे। बीजगणित भी भारत से अरब में गया और वहां से दूसरे देशों में। ज्योतिष और रेखागणित में भारतीय सभी देशों से आगे बढ़े थे। विद्वानों का विचार है कि ईसा की शती से तीन सहस्र वर्ष पूर्व भारतीयों में ज्योतिष-विद्या उन्नति पर थी। मान्स ने इस तथ्य को स्वयं स्वीकार किया है। डाक्टर थीवो ने बताया है कि रेखागणित में यू क्लिड का ४७ वां साध्य पैथागोरस के नाम से माना जाता है, परन्तु ऐसा नहीं, यह भारत के लोगों ने सदियों पूर्व जाना था। शुल्वसूत्रों में यह साध्य ज्यों का त्यों मिलता है। इस सम्बन्ध में श्री एल्फिस्टन ने यह लिखा है कि त्रिकोण के विभिन्न विषयों पर भारतीयों ने जो कुछ लिखा है और किया है, उसमें से कितनी बातें तो ऐसी हैं कि जो क्लेवियस के द्वारा प्रकाशित कराने तक योरूप को मालूम ही नहीं थीं। बीजगणित का अन्वेषण और प्रचलन आर्यों ने किया। इसका ज्यामिति और ज्योतिषविज्ञान

में प्रयोग भी इन्होंने ही किया। महाशय कोलब्रुक ने इस ओर यह निर्देश किया है कि यह प्रणाली बहुत ही अच्छी है और इसके साधन की परिपाटी भी अत्यन्त सराहनीय है। इसका सर्वप्रथम श्रेय भी भारत को है। 'डिफरेंशल कलकुलस' योरुप के लोगों की देन समझी जाती है, परन्तु इसका भी ज्ञान भारत के लोगों को उससे पूर्व था। भास्कराचार्य ने विविध स्थलों पर इसका वर्णन किया है। ईसा से २७८० वर्ष पूर्व भारत में ज्योतिर्विज्ञान बहुत उन्नति पर था।

महान् ज्योतिर्विद् बैली ने भारतीय ज्योतिष की तुलना करते हुए यह विचार दर्शाया है कि उसके समय से ४३८३ वर्ष पूर्व के मध्य के काल में जो ज्योतिष की गणनाएं भारतीय ज्योतिर्विदों ने की थीं—वे शासिनी और मेयर के द्वारा बनाये पटल से एक मिनट का भी अन्तर नहीं खातीं। कुछ पटल लावर के द्वारा १६८७ में लुईस चतुर्दश के काल में ले जाए गये थे जो शासेनी और मेयर से भी बहुत प्राचीन हैं। भारतीय-पटल चन्द्रमा की वार्षिक गतियों के विषय में वैसा ही परिज्ञान कराते हैं जैसा कि टीकों ब्राह्मे के अन्वेषणों ने बताया है। यह अलेक्जेंड्रिया और अरब के लोगों को ज्ञात नहीं था। उन्होंने उसी का अनुसरण किया। भारतीयों ने पांचवीं शती पूर्व ईसा के, भूमि के अपने भ्रमण का ज्ञान प्रचारित किया। उन्होंने वर्ष के दिनों का मान ३६५ दिन, ५ घण्टा, ५० मिनट और ३५ सैकिएड निर्धारित किया था। इसके बहुत काल बाद फ्रांस के ज्योतिर्विद् कैली ने इस मान को ३६५ दिन, ५ घण्टे, ५० मिनट और ४९ सैकिएड बतलाया। आर्यभट्ट ने पृथ्वी की दैनिक गति का भी परिज्ञान कराया और साथ ही सूर्य और चन्द्र, ग्रहों का भी विचार दिया। राजा जयसिंह द्वितीय ज्योतिष के बड़े विद्वान् थे, उन्होंने कई वेधशालाएं बनवाईं और उन्होंने डी. ला हेरे के ज्योतिष सम्बन्धी पटल को दुरुस्त किया। यह पटल १७०२ में प्रकाशित हुआ था। राग-गान-विद्या के विषय में भी भारत

सराहनीय है। सरविलियम जोन्सने कहा है कि योरोपीय-गान-विद्या भारतीय-गान-विद्या से कहीं अधिक उन्नत है। योरुप के लोग जबकि १२ उपध्वनियों तक ही पहुँचाते हैं, भारतीयों ने २२ की संख्या में इन्हें परिगणित किया। वास्तुविद्या और मकानों की नक्काशी में भी भारत को विद्वानों ने अग्रगण्य माना है। महाशय थार्टन ने इस विषय में भारतीयों की पहली प्रशंसा की है। कला के विषय में भी योरोपीय विपश्चितों के ऐसे ही विचार हैं। कर्नल टाड ने बतलाया है कि 'सारासीन आर्च' का मूल हिन्दुओं से प्राप्त हुआ है। विधान के विषय में भी ऐसी ही धारणा लोगों ने व्यक्त की है। कहने का तात्पर्य यह है कि भारत ने सभी विद्याओं के क्षेत्रों में उन्नति की और उसकी इन सब दिशाओं में कोई न कोई विशेष देन है। इसकी वह देन संसार के इतिहास में अनुपम स्थान रखती है और सदा के लिए अमर है।



प्राचीनकालीन भारत में विमान-निर्माण

यद्यपि भारत के प्राचीन वैज्ञानिक वैभव के अनुपम प्रतीक पुष्पक विमान का नाम हम सुनते हैं, परन्तु यह कभी-कभी गले से अन्दर नहीं जाता; क्योंकि हमारे मस्तिष्क में यह धारणा बद्धमूल हो चुकी है कि विमान-कला का जन्म यूरोप में हुआ और यह अभी थोड़े दिनों की उपज है। सत्य में प्राची और प्रतीची का कोई भेद नहीं। उसका उद्घाटन सदा होता रहा और भविष्य में होता भी रहेगा। आर्यों का विशाल साहित्य-भंडार महान् खोज का विषय है। अन्वेषणों से इनसे अनेक ज्ञान-रत्नों को निकाला जा सकता है। है भी यह नितराम् सत्य कि क्या युगान्तरों से चली आने वाली सभ्य आर्य जाति इस दिशा में अकर्मण्य ही रही है ? कदापि नहीं। मानव जीवन के चैतन्य के कण-कण में अन्वेषण का भाव भरा पड़ा है। यही कारण है कि वह प्रकृति के सन्निकट निरीक्षण से विविध विज्ञानों के रूप में फूट पड़ता है। मानव-मस्तिष्क यदि लोहे की पटरियों पर चलकर देश की दूरी को आसान कर सकता है, समुद्र की लहरों पर खेल करता हुआ चल सकता है तो निरंकुश आकाश में वह क्यों निरुद्ध रहेगा ? भारतीय लोगों ने अनेकों विज्ञानों में जहां उन्नति की थी, वहां उनकी वैमानिक विद्या भी, चाहे वह बहुत बड़े स्तर पर वायुयान न बना सकी हो, लोगों को इस दिशा में समुन्नत विचार देने वाली है। आर्यवाङ्मय वेद से प्रारम्भ होते हैं। यदि

वेदों की छानबीन की जावे तो उनमें इस विषय का अच्छा परिचय मिलता है। ऋग्वेद ६।५८।३, ४।३६।१ और २।४०।३ में विमानों का वर्णन है। इनमें सात चक्रों वाले विमान का भी उल्लेख है। तीन पहियों वाले विमान का तो कई मन्त्रों में वर्णन पाया जाता है। महाशय जैकोलियट, व्हीलर विलाक्स और प्रोफेसर मैक्समुलर ने स्पष्ट स्वीकार किया है कि वेदों में सृष्टि की क्रमिक रचना, विद्युत्, रेडियम, एलेक्ट्रान्स, वायुयान, वाष्प-इंजिन, टेलीग्राफी, बेतार के तार और मारकोनोग्राम आदि के वर्णन मिलते हैं। उनके विचार में वैदिक-काल में ये बातें लोगों को ज्ञात हो चुकी थीं। वाल्मीकि ने रामायण में पुष्पक विमान के विषय में लिखते हुए कहा है कि वह स्वर्ण की जालियों और स्फटिकनिर्मित खिड़कियों से युक्त था। अभिज्ञान शाकुंतल में भी विमान के विषय का उल्लेख और राजर्षि दुष्यन्त के द्वारा प्रयोग भासित होता है। वहां उसका प्रश्न मंत्री से यह है कि संप्रति हम लोग किस वायुपथ में पहुंचे हैं? मंत्री ने उत्तर देते हुए कहा कि यह परिवह वायु का मार्ग है जहां पर हम विराजमान हैं। वायु के आवह, परिवह, प्रवह, अनुवह, संवह, विवह और परावह ये सप्त स्कन्ध हैं। विमानचालक के लिये इनका परिज्ञान आवश्यक है। इनका वर्णन महाभारत, ब्रह्माण्ड पुराण और सिद्धान्तशिरोमणि आदि भारतीय विद्या के ग्रन्थों में मिलता है। महर्षि भरद्वाज-प्रणीत इस विषय के ग्रन्थ, जिसका नाम 'यन्त्रसर्वस्व' है, में इस का उल्लेख प्राप्त होता है। इस ग्रन्थ के एक प्रकरण जिसका नाम 'वैमानिक' प्रकरण है, की विद्यमानता बड़ौदा राजकीय पुस्तकालय में पायी जाती है। इस भाग पर बोधानन्दनामी किसी विद्वान् की वृत्ति भी पायी जाती है। पहले प्रकरण में प्राचीन विज्ञान-विषयक पच्चीस ग्रन्थों की एक सूची भी है। इनमें अगस्त्यकृत 'शक्तिसूत्र', ईश्वरकृत 'सौदामिनी कला', भरद्वाजकृत 'अंशुमत्तन्त्र', आकाश शास्त्र तथा 'यन्त्रसर्वस्व' और

शाकटायनविरचित “वायुतत्त्वप्रकरण” नारदप्रणीत “वैश्वानरतन्त्र” धूमप्रकरण आदि के उल्लेख हैं। वृत्तिकार बोधानन्द का यह कथन है कि वेदान्भोधि का मन्थन करके महर्षि भरद्वाज ने इस “यन्त्रसर्वस्व” नामी ग्रन्थ का निर्माण किया है। इस ग्रन्थ में चालीसवें अधिकरण में विमान-रचना का वर्णन है। यह प्रकरण आठ अध्यायों में विभक्त है। इसमें शत अधिकार और पांच सौ सूत्र हैं। विषय की दृष्टि से इसमें विमान-विज्ञान की ही प्रधानता है। ग्रन्थ के देखने से यह भी स्पष्ट है कि विश्वनाथ नामी किसी विद्वान् ने विमान-कला के प्रमुख पूर्ववर्ती आचार्यों और उनके द्वारा निर्मित ग्रन्थों की एक तालिका भी बनायी है। भरद्वाज के पूर्ववर्त्ती वे आचार्य—नारायण, शौनक, गर्ग, वाचस्पति, चाक्रायणि और दुण्डिनाथ हैं। इनके ग्रन्थ क्रमशः—विमान-चन्द्रिका, व्योमयानतन्त्र, यन्त्रकल्प, यानविन्दु, खेटयानप्रदीपिका और व्योमयानार्कप्रकाश थे। विमान की परिभाषा करते हुए भरद्वाजसूत्र में लिखा गया है कि—जो पृथ्वी, जल और आकाश में पक्षियों के समान वेगपूर्वक चल सके, स्थान से स्थानान्तर, देश से देशान्तर, और द्वीप से द्वीपान्तर में जाने में समर्थ हो, वह विमान है। भारतीय विमानज्ञ आचार्यों ने विमान की रचना का ज्ञान पक्षियों को देखकर प्राप्त किया था। पक्षियों के वेग और आकार की समता के आधार पर विमान की रचना एतद्विषयक सभी भारतीय ग्रन्थों में समान है। समरांगण-सूत्राधार ग्रन्थ में भी विमान की रचना ‘दाहमय-पक्षी’ की रचना के ही रूप में कही गयी है। विना आकाशीय रहस्यों को ज्ञाने हुए मनुष्य विमान चलाने का अधिकारी नहीं हो सकता; अतः भरद्वाज ने ३२ रहस्यों का भी उल्लेख किया है। आचार्य लल्ल ने इनको अपने रहस्यत्वहरी ग्रन्थ में भली भांति दर्शाया था। ये ३२ रहस्य हैं—मांत्रिक, तांत्रिक, कृतक, अन्तरालक, गूढ, दृश्य, अदृश्य, परोक्ष, अपरोक्ष, संकोच, विस्तृत, विरूपकरण, रूपान्तर, सुरूप, ज्योतिभाव, तमोमय, प्रलय,

विमुख, तारमहाशब्दविमोहन, लघन, मार्पगमन, चापल, सर्वतांमुख, पर-
शब्दग्राहक, रूपाकर्षण, क्रियारहस्यगण, दिक्प्रदर्शन, आकाशाकार, जलद
रूप, स्तब्धक और कर्षण । इन रहस्यों की पारिभाषिकता का विशदीकरण
ग्रन्थ में विस्तार से किया गया है । विमान को आकाश में उड़ते हुए पांच
प्रकार के आवर्त अर्थात् बबरडरों से क्षति का भय रहता है; अतः परि-
चालक को इनकी प्रकृतियों से परिचित रहना परमावश्यक है । भरद्वाजीय
विमानसूत्र और शौनक ऋषि के अनुसार रेखापथ, मण्डल, कक्ष्य, शक्ति
और केन्द्र ये पांच आकाश मार्ग हैं । इन मार्गों में चलते हुए विमानों में
दो प्रवाहों के संसर्ग से आवर्त उत्पन्न हो जाते हैं । रेखापथ में शक्तमावर्त,
शक्तिपथ में शैल्यावर्त, केन्द्र में घर्षणावर्त, मण्डल में वातावर्त और कक्ष्य
में किरणावर्त होते हैं । यदि इन मार्गों में चलने वाले विमानों के द्वारा
शक्तियों के टकर से उत्पन्न आवर्तों को जाना न जावे तथा प्रतीकात् न
किया जावे तो विमानों के ये विनाशक हो सकते हैं । इन्हीं पूर्वोक्त पांच
आकाशीय मार्गों को लघुरूप में 'मार्ग-निबंधन ग्रंथ' में ल-ह; व-ह, य-ह;
र-ह और म-ह कहा गया है जो कि केवल सांकेतिक है । इनके अतिरिक्त
विमान के ३१ अंग भी कहे गये हैं । इन का परिज्ञान उतना ही आव-
श्यक बतलाया गया है जितना कि शरीर के परिज्ञान के लिये शरीर के
अंगों का ज्ञान । समरांगणपुत्राधार में विमान की रचना का प्रकार
बतलाते हुए कहा गया है कि दृढ़ काष्ठ का पक्षी बनाना चाहिए । उसके
मध्य में अग्निस्थापन का घट बनाना चाहिए । घट में पारे और अग्नि का
संयोग किये जाने पर पारद की शक्ति से विमान इन्द्र के भवन के समान
आकाश में गरजता हुआ दौड़ेगा । प्राचीन काल में विमान पारे से चलाये
जाते थे । इनके वेगवान् होने पर शब्द भी प्रचुर होता था । उस समय
पेट्रोल से विमान चलते थे, ऐसा वर्णन नहीं मिलता । इस प्रकार इन
ग्रन्थों के अनुशीलन से पता चलता है कि भारत में प्राचीन काल में

विमान-विज्ञान प्रसिद्ध था। लोग विमान बनाते और उनका उपयोग करते थे। यदि ऐसा न होता तो इतने आचार्यों के ग्रन्थ इम विषय में कैसे पाये जा सकते थे? अब ये ग्रन्थ पूरे के पूरे कालचक्र से उपलब्ध नहीं हैं फिर भी जो उपलब्ध हैं वे भारत के वैज्ञानिक गौरव को दर्शाने वाले हैं। भरद्वाज विमान-शास्त्र और समरांगणसूत्राधार में विमान के विषय में एक समता पक्षियों के आकार की है जो दोनों में एक ही ढंग पर उपलब्ध है। यह कल्पना बहुत पुरानी परम्परा की उन्नायिका की ज्ञात होती है। ऋग्वेद १।११।८।१ में ऐसा ही वर्णन दिखलायी पड़ता है। वहां पर “श्येनयत्वा” पद का प्रयोग है। जिसका अर्थ वाज्र के समान उड़ने वाला है। इन ग्रन्थों में वर्णित ३२ रहस्यों के पर्यालोचन से कुछ और भी आधुनिक बातों का परिज्ञान होता है। २६वें रहस्य से यह पता लगता है कि चालक के पास कोई दूरदर्शक साधन भी था। २५ वें रहस्य से ज्ञात होता है कि दूसरे विमान के लोगों की बातचीत जानने और शब्दों का आकर्षण करने के लिये विमान पर शब्दग्राहक यन्त्र भी रहता था। २८ वां रहस्य दूसरे विमान के आने की दिशा का प्रदर्शन करने के यन्त्र की ओर निर्देश करता है। इससे एक विमान-चालक दूसरे विमान के आगमन की दिशा को जान लेता था। शत्रु के विमान को गैस अथवा अग्नि आदि साधनों से नष्ट करने की प्रक्रिया भी लोगों को ज्ञात थी, यह बत्तीसवें रहस्य में दृष्टिगोचर होता है। एक विमान पर स्थित चालक दूसरे विमान की वस्तुओं के रूप को खींच लेवे, ऐसा भी यन्त्र उस समय आविष्कृत हो चुका था।

भारत की यह प्राचीन वैमानिक कला कलान्तर में लुप्त हो गयी। जहां अनेक परिवर्तन हुए और विविध विचारों ने नष्ट हो गयीं वहां इस विद्या का भी हास होना कोई असंभव बात नहीं है। बाद में पाश्चात्य विद्वानों ने विमान का आविष्कार किया और आज यह उनकी ही देन समझा

विमुख, तारमहाशब्दविमोहन, लघन, सार्पगमन, चापल, सर्वतोमुख, पर-शब्दग्राहक, रूपाकर्षण, क्रियारहस्यगण, दिक्प्रदर्शन, आकाशाकार, जलद रूप, स्तब्धक और कर्षण । इन रहस्यों की पारिभाषिकता का विशदीकरण ग्रन्थ में विस्तार से किया गया है । विमान को आकाश में उड़ते हुए पांच प्रकार के आवर्त अर्थात् बबलडरों से क्षति का भय रहता है; अतः परिचालक को इनकी प्रकृतियों से परिचित रहना परमावश्यक है । भरद्वाजीय विमानसूत्र और शौनक ऋषि के अनुसार रेखापथ, मण्डल, कक्ष्य, शक्ति और केन्द्र ये पांच आकाश मार्ग हैं । इन मार्गों में चलते हुए विमानों में दो प्रवाहों के संसर्ग से आवर्त उत्पन्न हो जाते हैं । रेखापथ में शक्तमावर्त, शक्तिपथ में शैल्यावर्त, केन्द्र में घर्षणावर्त, मण्डल में वातावर्त और कक्ष्य में किरणावर्त होते हैं । यदि इन मार्गों में चलने वाले विमानों के द्वारा शक्तियों के टक्कर से उत्पन्न आवर्तों को जाना न जावे तथा प्रतीकार न किया जावे तो विमानों के ये विनाशक हो सकते हैं । इन्हीं पूर्वोक्त पांच आकाशीय मार्गों को लघुरूप में 'मार्ग-निबंधन ग्रंथ' में ल-ह; व-ह, य-ह; र-ह और म-ह कहा गया है जो कि केवल सांकेतिक है । इनके अतिरिक्त विमान के ३१ अंग भी कहे गये हैं । इन का परिज्ञान उतना ही आवश्यक बतलाया गया है जितना कि शरीर के परिज्ञान के लिये शरीर के अंगों का ज्ञान । समरांगणपुत्राधार में विमान की रचना का प्रकार बतलाते हुए कहा गया है कि दृढ़ काष्ठ का पत्ती बनाना चाहिए । उसके मध्य में अग्निस्थापन का घट बनाना चाहिए । घट में पारे और अग्नि का संयोग किये जाने पर पारद की शक्ति से विमान इन्द्र के भवन के समान आकाश में गरजता हुआ दौड़ेगा । प्राचीन काल में विमान पारे से चलाये जाते थे । इनके वेगवान् होने पर शब्द भी प्रचुर होता था । उस समय पेट्रोल से विमान चलते थे, ऐसा वर्णन नहीं मिलता । इस प्रकार इन ग्रन्थों के अनुशीलन से पता चलता है कि भारत में प्राचीन काल में

विमान-विज्ञान प्रसिद्ध था। लोग विमान बनाते और उनका उपयोग करते थे। यदि ऐसा न होता तो इतने आचार्यों के ग्रन्थ इम विषय में कैसे पाये जा सकते थे? अब ये ग्रन्थ पूरे के पूरे कालचक्र से उपलब्ध नहीं हैं फिर भी जो उपलब्ध हैं वे भारत के वैज्ञानिक गौरव को दर्शाने वाले हैं। भरद्वाज विमान-शास्त्र और समरांगणसूत्राधार में विमान के विषय में एक समता पद्धतियों के आकार की है जो दोनों में एक ही ढंग पर उपलब्ध है। यह कल्पना बहुत पुरानी परम्परा की उन्नायिका की ज्ञात होती है। ऋग्वेद १।११।८।१ में ऐसा ही वर्णन दिखलायी पड़ता है। वहां पर “श्येनयत्वा” पद का प्रयोग है। जिसका अर्थ वाज्र के समान उड़ने वाला है। इन ग्रन्थों में वर्णित ३२ रहस्यों के पर्यालोचन से कुछ और भी आधुनिक बातों का परिज्ञान होता है। २६वें रहस्य से यह पता लगता है कि चालक के पास कोई दूरदर्शक साधन भी था। २५ वें रहस्य से ज्ञात होता है कि दूसरे विमान के लोगों की बातचीत जानने और शब्दों का आकर्षण करने के लिये विमान पर शब्दग्राहक यन्त्र भी रहता था। २८ वां रहस्य दूसरे विमान के आने की दिशा का प्रदर्शन करने के यन्त्र की ओर निर्देश करता है। इससे एक विमान-चालक दूसरे विमान के आगमन की दिशा का जान लेता था। शत्रु के विमान को गैस अथवा अग्नि आदि साधनों से नष्ट करने की प्रक्रिया भी लोगों को ज्ञात थी, यह बत्तीसवें रहस्य में दृष्टिगोचर होता है। एक विमान पर स्थित चालक दूसरे विमान की वस्तुओं के रूप को खींच लेवे, ऐसा भी यन्त्र उस समय आविष्कृत हो चुका था।

भारत की यह प्राचीन वैमानिक कला कलान्तर में लुप्त हो गयी। जहां अनेक परिवर्तन हुए और विविध विद्यायें नष्ट हो गयीं वहां इस विद्या का भी हास होना कोई असंभव बात नहीं है। बाद में पाश्चात्य विद्वानों ने विमान का आविष्कार किया और आज यह उनकी ही देन समझा

जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि आजकल के विमानों का बहुत परिमार्जित रूप है परन्तु यह इतने से ही नहीं कहा जा सकता कि पुरातन काल में भारतीय इनसे अनभिज्ञ थे। उनके पास इस विज्ञान का पल्लवित रूप अवश्य विद्यमान था।



प्राचीन भारत का समुन्नत नौनिर्माण-विज्ञान

प्राधुनिक काल में युद्धपोतों और व्यापारिक प्रवहणों को देखकर नौनिर्माण-विज्ञान की उपादेयता किसी से भी छिपी नहीं है।

सामुद्रिक व्यापार में जहाजों की जहां अत्यन्त आवश्यकता है वहां युद्ध में भी इनकी नितराम् अनिवार्यता है ! भारत पूर्व काल में एक चातुर्दिक् आत्मनिर्भर देश था अतः यह किसी प्रकार भी संभव नहीं हो सकता था कि वाणिज्य के इस महान् साधन का विकास प्राचीन भारत में न हुआ हो। भारतीय इतिहास के पृष्ठों को उलटने पर हमें यह पता चलता है कि प्राचीन-भारत में नौका-निर्माण-विज्ञान एक समुन्नत स्थिति में था। यहां पर इस विद्या के निष्णात लोगों ने वृहत्काय, विविधकक्ष और कई तल्ले वाले जहाजों का निर्माण किया था। भारत में अति प्रसिद्ध ६४ कलाओं में इस विज्ञान का भी स्थान है। यहां की ग्रामपंचायतों में एक विभाग नाविकों का हुआ करता था जिसका प्रधान कार्य इससे संबद्ध था।

जब हम वैदिक-संहिताओं पर दृष्टिचेप करते हैं तो हमें ज्ञात होता है कि उनमें विविध प्रकार की नौकाओं के बनाने का उल्लेख मिलता है। उनमें लोहे आदि धातुओं की ऐसी नौकाओं का वर्णन मिलता है जो समुद्र में पानी के अन्दर चलती हैं और अन्तरिक्ष में चलने वाले धातुमय जहाजों का वर्णन भी साथ में ही किया गया है। ऋग्वेद की संहिता में ६।५८।३ का स्थल इस विषय में एक ज्वलन्त प्रमाण है। हमारे इतिहास

और पुराणों में ऐसे बृहत्काय जहाजों का वर्णन उपलब्ध होता है जिनमें शतशः योद्धा तैयार रहते थे। महाभारत में तो ऐसी नावों का कथन भी मिलता है जो यन्त्रों से संचालित होती थीं। उनकी स्थिति का वर्णन करते हुए बताया गया है कि वे सब प्रकार के बवंडरों को सहन करने में समर्थ यन्त्रों से युक्त और पताकाओं से सुसज्जित थीं। इस प्रकार के जहाजों से समुद्री व्यापार भी होते थे, ऐसा संस्कृत साहित्य से दृष्टिगोचर होता है। अर्थ-शास्त्र प्रणेता कौटिल्य को इसी कारण नावाध्यक्ष प्रकरण में नावों के प्रबन्ध का राज्य की ओर से करने के विभाग का वर्णन करना पड़ा। नौ-निर्माण कला का उस समय इतना अधिक पुरस्कार मिलता था कि लोगों को आश्चर्य चकित हो जाना पड़ता है। हमें नावों के निर्माणार्थ लकड़ियों की विवेचना भारतीय संस्कृत-साहित्य के ग्रन्थों में पढ़ने को मिलती है। प्रसिद्ध ज्योतिषाचार्य वाराहमिहिर की बृहत्संहिता औ भोजकृत कल्पतरु में इस विषय पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। वृक्ष-आयुर्वेद के सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण करने वाले आचार्यों ने उत्तम, मध्यम, साधारण और निकृष्ट आदि श्रेणियों द्वारा काष्ठों के भेद किये हैं। इनके विभागीकरण में उन्होंने मनुष्यों के समान लकड़ियों में भी ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि भेद किये हैं। जो लकड़ी कोमल और सहज में जोड़ी जा सके उसे ब्राह्मण जाति की लकड़ी कहा गया है। क्षत्रिय जाति की लकड़ी दृढ़ होती है और साथ ही साथ हल्की भी होती है। वैश्य जाति की लकड़ी में भारीपना और कोमलता दोनों गुण माने गये हैं। शूद्र जाति की लकड़ी दृढ़ तथा भारी मानी गयी है। भोज का विचार था कि क्षत्रिय जाति के काष्ठ की बनी हुई नौका अच्छी होती है और विकट जलमार्गों में काम दे सकती है। दूसरी जाति की लकड़ियों की नौका टिकाऊ नहीं होती है, उनकी लकड़ियाँ जल्दी सड़ गल जाती हैं। भोज का यह भी कथन है कि जहाजों के नीचे के तलों को लोहे से जोड़ने का कार्य न

लेना चाहिए, क्योंकि यदि समुद्रान्तर्गत चट्टान वाले पाषाणों में कहीं चुम्बक हो तो उसे आकृष्ट करेगा और जहाज के लिए विषम स्थिति पैदा हो जावेगी। विशालता की दृष्टि से प्राचीन भारत के पोतों के सामान्य और विशेष दो भेद किये गये हैं। इनमें सामान्य जहाज क्षुद्रा, मध्यमा, भीमा, चपला, पटला, भया, दीर्घा, पत्रपुटा, गर्भरा और मन्थरा भेद से दश प्रकार के माने गये हैं। इनमें प्रथम क्षुद्रा की लम्बाई, चौड़ाई और ऊंचाई क्रमशः १६, ४, ४ हाथ और मन्थरा की क्रमशः १२०, ६० और ६० हाथ है। विशेष के भेदों का वर्णन इस प्रकार मिलता है। ये दीर्घिका, लोला, तरणि, गत्वरा, गामिनी, तरी, जंघाला, लाविनी, वेगिनी आदि भेदों से दश प्रकार की हैं। इनमें अन्तवाली वेगिनी की लम्बाई १७६ चौड़ाई २२ और ऊंचाई १७। हाथ बतलायी गयी है। मन्थरा की ऊंचाई ४८ हाथ तक मानी गयी है। इनकी सजावटों का वर्णन करते हुए बतलाया गया है कि सोना, चांदी, तांबा को मिला कर प्रयोग करना चाहिए। यह भी दिखलाया गया है कि चतुःशृंग जहाजों को क्रमशः श्वेत, लाल, पीला और नीला रंगना चाहिए। इनकी मुखाकृतियों के प्रकार का वर्णन करते हुए दर्शाया गया है कि सिंह, भैंसा, सर्प, हाथी, व्याघ्र, पक्षी, मेढक अथवा मनुष्य की आकृतियों को वर्तना चाहिए। ऊपरी तलों की दृष्टि से सर्व-मध्या और अग्रमन्दिरा भेद किये गये हैं। ये लम्बी यात्रा के कार्य के लिए प्रयोग में लायी जाती थीं। इस प्रकार संस्कृत-वाङ्मय इस बात का साक्षी है कि भारत में विभिन्न प्रकार के महाकाय जहाजों का निर्माण होता था और वह भी एक वैज्ञानिक ढंग पर। यवनकाल में भी भारत में दीर्घकाय जहाजों का निर्माण होता रहा। इतिहास के विवेचक इस तथ्य से कभी भी मुख नहीं मोड़ सकते। मार्को पोलो का आगमन भारत में त्रयोदश शती में हुआ था। उसने यहां के जहाजों की रचना पर दृष्टि डालते हुए लिखा है कि इनमें दोहरे पट्टों की जुड़ाई होती थी और लोहे

की शलाकों से इनको बहुत पुष्ट बनाया जाता था। शलाकों के सूराख को एक विशेष प्रकार के गोंद से भर दिया जाता था। उसका कथन है कि यहां इतने बड़े बड़े जहाज होते थे कि उनमें तीन तीन सौ मल्लाह लगते थे और उन पर पांच से छः सहस्र तक बोरे लादे जाते थे। मनुष्यों के रहने के लिए ऊपर कक्ष बने रहते थे जिनमें रहने वालों को सब प्रकार का आराम मिलता था। जहाज का पैदा खराब होता देखकर उन पर एक से छः पैदे तक आवश्यकता के अनुसार जोड़ दिये जाते थे। पंचदश शती के भारत में आने वाले यात्री निकोलो काण्टी और वर्थमा ने लिखा है कि भारतीय जहाज हमारे जहाजों से बहुत अधिक विशालकाय होते थे। उनमें लकड़ी के पटरों की ऐसी उत्तम जुड़ाई होती थी कि तनिक भी पानी पार नहीं कर सकता था। अकबर के जहाजी बेड़े का अध्यक्ष मीर बहर कहलाता था। छत्रपति शिवाजी का अपना जहाजी बेड़ा था, जिसके अध्यक्ष को दरिया-सारंग कहा जाता था। पश्चिमी लोगों का जब भारत में पदार्पण हुआ तो वे यहां के जहाजों को देख कर चकित रह गये। इसमें संदेह नहीं कि सप्तदश शताब्दी तक योरप के जहाज अधिकाधिक छः सौ टन के थे, परन्तु भारतमें उसी समय उन्होंने गोधा नामक ऐसे विशाल पोतों को देखा जो १५ सौ टन से भी अधिक के होते थे। यहां तक कि योरूपीय कम्पनियां भी इन जहाजों को कार्य में लाने लगी थीं। भारतीय नौ-निर्माण-शिल्पियों द्वारा प्रवहणों के निर्माण के कई कारखाने भी उन्होंने खोले। प्रसिद्ध अंग्रेज लेफ्टीनेंट वाकर ने लिखा है कि ब्रिटिश जहाजी बेड़ों के जहाजों की मरम्मत बारहवें वर्ष करनी पड़ती थी, जब कि भारतीय सागवान-निर्मित जहाज पचास वर्ष तक बिना मरम्मत काम देते रहते थे। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के पास दरिया दौलत नामी जो जहाज था, वह ८७ वर्ष तक काम देता रहा। बम्बई के कारखाने में १७३६ से १८३६ तक ३०० जहाज बने थे। इनमें से बहुत से इंग्लैण्ड

राजकीय बेड़े में सम्मिलित किये गये थे। इनमें एशिया नामक महापोत २२८९ टन का था और उसमें ८४ तोपें लगी थीं। बंगाल प्रांत के कारखानों में १७८१ से १८२१ तक के समय में १,२२,६९३ टन के २७२ जहाज केवल हुगली में निर्मित किये गये थे।

यह था भारत के नौनिर्माण-विज्ञान का उत्कर्षकाल। इसके बाद अंग्रेजों को भारतीय विज्ञान की यह उन्नति देख कर प्रतिस्पर्धा की भावना उत्पन्न हो गयी। इस उन्नति को सहन न कर सकने के कारण ब्रिटिश जहाजी-व्यापारी ईस्ट इण्डिया कम्पनी को भारतीय जहाजों के बहिष्कार के लिए उकसाने लगे। यद्यपि यह सभी मानते थे कि भारतीय जहाजों के निर्माण में बहुत कम व्यय पड़ता है और अधिक मजबूत भी होते हैं, फिर भी जहाज बनाने वाले अंग्रेज कारीगरों को यह बात खटकी। उन लोगों ने शोर मचाना प्रारम्भ किया कि हमारा सारा व्यापार और धनधा नष्ट हो जावेगा। परिणामस्वरूप पार्लियामेंट ने मि० राबर्ट की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की। इसके सुझावों के आधार पर सदस्यों में मतभेद रहते हुए भी १८१४ में विधान पास कर भारतीयों से ब्रिटिश नाविक बनने का अधिकार छीन लिया गया। जहाजों पर कम से कम तीन-चौथाई अंग्रेज खलासी रखना अनिवार्य कर दिया गया। इंग्लैण्ड के बने और जिनके स्वामी अंग्रेज हों ऐसे जहाजों से ही माल आ सकेगा और बाहरी जहाजों से नहीं, यह भी प्रतिबन्ध लगा दिया गया। यद्यपि इस विधान के पालन में अनेक कारणों से ढीलापन हुआ फिर भी सन् १८६२ से इसका पूरा पालन होने लगा। जैसा कि महाशय विलियम डिग्वी ने लिखा है कि “पाश्चात्य संसार की रानी ने प्राच्य सागर की रानी का बध कर डाला।” भारतीय जहाजों पर लदे माल की चुंगी बढ़ायी गयी और व्यापार से उनको अलग करने का प्रयत्न किया गया। इस घटना-चक्र से भारतीय नौ-निर्माण कार्य नष्ट हुआ।

भारत का आयुर्वेदिक विज्ञान

रख तत्र भारत में प्राचीन काल से चली आने वाली आयुर्वेद की चिकित्सा-प्रणाली के उत्थान के संस्कार जागरूक होने लगे हैं। सरकारें भी इस दिशा में अपना पग उठाने लगी हैं। इसका एकमात्र प्रधान कारण यह है कि यह बात लोगों को अब सर्वसम्मत हो गयी है कि जो जिस देश और वायुजल-युक्त स्थान से उत्पन्न हुआ है, उसके लिए उसी देश और वायुजल में उत्पन्न हुई औषधियाँ अधिक लाभकारी हो सकती हैं। आयुर्वेदिक चिकित्सा-प्रणाली के आधार पर चिकित्सा करने के सिद्धहस्त वैद्य बहुत थोड़े हैं, जो इस दिशा में अन्य चिकित्सा-प्रणालियों के डाक्टरों के समकक्ष खड़े हो सकें। वर्तमान समय में एलोपैथी का प्रभाव संसार के अधिकतम भाग पर है। भारत में भी यह अपना पैर अच्छी तरह जमा चुकी है। जबतक अनुसंधान और अन्वेषण का कार्य आयुर्वेद में नहीं होता, वह दूसरी प्रणालियों के समक्ष खड़ा नहीं हो सकता। कोई भी सिद्धान्त तबतक खड़ा नहीं हो सकता जबतक उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि न हो। इसमें सन्देह नहीं कि एलोपैथी से आयुर्वेद की दार्शनिक पृष्ठभूमि अधिक प्रबल है। परन्तु यह पृष्ठभूमि तब कारगर हो सकती है जब वैज्ञानिक ढंग पर प्रयोगों का समुत्थान होता रहता हो। आधुनिक एलोपैथी में दिनों दिन नवीन परीक्षण और अन्वेषण तथा वैज्ञानिक विश्लेषण होते रहते हैं, जिससे वह प्रति-

दिन समुन्नत हो रही है। इसके विपरीत आयुर्वेदिक चिकित्सकों में इस दिशा में अकर्मण्यता के अतिरिक्त और कुछ भी दृष्टिगोचर नहीं होता। वे आयुर्वेद के अनुसंधान से उसे बढ़ाने के स्थान में केवल औषधियों के प्रयोग और उससे पैसा कमाने के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं करते। हां इतना अवश्य कहते हैं कि यह विज्ञान बहुत ऊंचा है और इसके मुकाबले में दूसरा खड़ा नहीं हो सकता। कोई जाति केवल पूर्वजों का उच्चादर्श और प्रगतियों का डंका मात्र पीटकर आगे उसमें बिना कुछ वृद्धि किये हुए कृतकार्य नहीं हो सकती है। यह सत्य है कि चरक और सुश्रुत संहिताओं में ऊंची श्रेणी का विज्ञान मिलता है परन्तु आगे उसकी उन्नति बिना किये वह किस प्रकार जनोपकारी बन सकेगा। केवल आयुर्वेद का नाम लेवें और प्रयोग करें एलोपैथिक औषधियों; इनसे तो इस चिकित्सा-प्रणाली का उत्थान हो नहीं सकता। प्राचीन काल में भारतीय आयुर्वेद की प्रक्रिया एक उच्चतम स्थान को प्राप्त कर चुकी थी। आज कल तो उसका पूरा परिज्ञान भी लोगों को नहीं, उसके भाण्डार की अभिवृद्धि तो दूर की बात है। भारतीय आयुर्वेद का उद्गमस्थान अथर्ववेद है, ऐसा आयुर्वेदिक ग्रन्थों से पता चलता है। अथर्ववेद में शरीर-विज्ञान और औषधियों आदि का बहुतसा वर्णन मिलता है। ज्वर के अनेक भेदों और उपचार की भी सामग्री उसमें देखी जाती है। जबतक उसके साथ मिलाकर आयुर्वेदिक चिकित्सा-सामग्री और विज्ञानों का अनुसंधान नहीं होता और इसे प्रयोग में वैज्ञानिक रूप नहीं दिया जाता है तबतक यह उन्नति के पथ का दर्शन नहीं कर सकती। जो आयुर्वेदविज्ञान इस समय तक सुरक्षित है वह भी उस समय पर किये गये महान् अनुसंधानों का ही फल है। बहुत से ग्रन्थ इस विषय के लुप्त भी हो चुके हैं। अनेक बातें ऐसी हैं, जिनमें नया दृष्टिकोण अपनाना पड़ेगा। वैदिक दर्शन शरीर को पंचतत्वात्मक बतलाते हैं। उसी के आधार

पर भारतीय आयुर्वेद ने शरीर को पंचतत्वात्मक स्वीकार किया। आज के नवीन विज्ञान के तत्व क्या हैं ? और वे पांच ही हैं अथवा न्यूनाधिक इस विषय में लोगों की आंखें खोल दी हैं। इसका समन्वय करना परमावश्यक है। यह नहीं कि ऐसा हो नहीं सकता परन्तु इधर कोई पग उठाता ही नहीं। कफ, वात और पित्त के त्रिदोष के सिद्धान्त पर आयुर्वेद की आधार शिला है। ऐसा आयुर्वेदाचार्यों को क्यों करना पड़ा इसलिये कि उस समय सांख्यों की त्रिगुण-प्रक्रिया ने दर्शन में प्रधानता प्राप्त करली थी। कोई विचारधारा चलाने के लिये उसका दर्शन पहले बनाना पड़ता है। भारतीय आयुर्वेदज्ञों ने सांख्य की प्रक्रिया को अपनाया और उसके आधार पर त्रिदोष की प्रक्रिया निश्चित की। संसार में जो सत्व, रजस् और तमोगुण हैं, वे ही आयुर्वेद में उस प्रक्रिया के अन्तर्गत वात, पित्त और कफ हैं। आज विज्ञान ने प्रकृति के स्वरूप के विषय में एक उथल पुथल उत्पन्न कर दी है, और ऐसी अवस्था में इस दृष्टि से भी तो आयुर्वेद के सिद्धान्तों की परीक्षा करनी ही पड़ेगी। आज की वैज्ञानिक प्रकृति और आयुर्वेदीय प्रकृति में कोई समन्वय की सरणि निकाले बिना आयुर्वेद की दार्शनिकता को कैसे कायम रखा जा सकेगा। त्रिदोषों के खण्डन में जितना अधिक प्रयत्न बाहर और भीतर से हुआ है, उसके स्थापन में किसी आयुर्वेदज्ञ ने आज तक नहीं किया है। यदि त्रिदोषवाद ठीक है तो फिर आपत्तियों का समाधान तो होना ही चाहिये। आजकल डाक्टरी पढ़ने के लिये रसायन-शास्त्र, वनस्पतिविज्ञान आदि परम आवश्यक अंग माने जाते हैं, परन्तु आयुर्वेदाचार्य और कविराज बनने में ऐसा आवश्यक ध्यान नहीं रखा जाता। भारतीय आयुर्वेद विज्ञान से ऐसे ज्ञानरत्नों को निकाल कर पृथक् रख दिया जाना चाहिये, जिससे विद्यार्थियों को इस विषय में सहायता हो। जिन विद्यालयों में आयुर्वेद को उच्च कक्षा तक पढ़ाने का प्रबन्ध है, उनमें शरीर-रचना और रसायन-

शास्त्र आदि ग्रन्थ पाश्चात्यों की प्रक्रिया से ही पढ़ाये जाते हैं। यदि ये वस्तुएं अपने आयुर्वेद में हैं, तो इनका संग्रह आयुर्वेद-वैज्ञानिकों द्वारा लोगों के सामने रखे जाने से इस विद्या की महती उन्नति होगी। प्राचीन आचार्य लोग सदा नवीन परिस्थितियों से आगाह रहते थे और बग़ाबर सिद्धान्तों पर नवीन अन्वेषण करते रहते थे। कहीं कहीं आयुर्वेद में ऐसी बातें और युक्तियाँ भी दिखलायी पड़ती हैं जो अनुसंधान के स्तर की नहीं मालूम पड़तीं, केवल बुझाविल सी जान पड़ती हैं। गर्भ में बालक के शरीर का कौन सा भाग सर्व प्रथम बनता है, इस पर चरक और सुश्रुत में दिये गये विचारों में केवल एक ही ठीक ज्ञात होता है, शेष केवल वाग्विलास-मात्र हैं। आचार्य शौनक का यह मत था कि चूँकि समस्त ज्ञानेन्द्रियाँ सिर में हैं, अतः पहले सिर ही बनता है। बुद्धि और मन का स्थान होने से हृदय पूर्व बनता है, ऐसा कृतवीर्य का विचार है। नाभि समस्त शरीर के बढ़ाने का हेतु है, अतः यह ही गर्भ में पहले बनती है, ऐसा पाराशर का सिद्धान्त है। हाथ और पाँव पहले निर्मित होते हैं क्यों कि चेष्टा इनसे ही होती है, ऐसा मार्कण्डेय मानते हैं। मध्यशरीर की रचना पूर्व होती है यह सुमति गौतम का मत है। पक्वाशय और गुप्त्र भाग पूर्व होते हैं, यह भद्र शौनक की सम्मति है। ऐसा क्यों ? इसलिये कि ये वायु के स्थान हैं। वैदेह जनक का कहना था कि इन्द्रियाँ पूर्व उत्पन्न होती हैं। इन सभी वादों को न मानते हुए धन्वन्तरि ने यह स्थापित किया कि सारे अवयव गर्भस्थ में युगपत् विकसित होते हैं। इन सभी विचारों में धन्वन्तरि का विचार ही परिमार्जित है। शेष विचार अपनी युक्तियों से समन्वय नहीं रखते हैं। आश्चर्य तब होता है जब मरीचि काश्यप का मत देखा जावे। उनका कहना था कि यह अचिन्त्य है अतः छोड़ ही देना चाहिये। अकर्मण्य के लिए यह ठीक हो सकता है परन्तु किसी वस्तु को अचिन्त्य कह कर छोड़ना मनुष्यता के स्वभाव के विपरीत है। अस्तु

जो कुछ भी हो, यह सुतराम् ठीक है कि फल जो कुछ उपलब्ध है वह अनुसन्धान और परीक्षण का ही फल है और बहुत परिश्रम के पश्चात् धन्वन्तरि ने उन्हीं से प्राप्त किया होगा। आज कल का विज्ञान मन का स्थान मस्तिष्क में मानता है। जब कि आयुर्वेद में मन और बुद्धि का स्थान हृदय है। इस विषय पर महान् गवेषणा की आवश्यकता है। सत्यासत्य के निर्णय को प्राची प्रतीची के नाम पर छोड़ा नहीं जा सकता। यह तो दिखलाना ही पड़ेगा कि हृदय में मन बुद्धि का स्थान होने से क्या विशेषता है ? वेद में भी मन को हृदय में रहनेवाला बतलाया गया है। परन्तु इसके ज्ञान साधन ज्ञानेन्द्रियें शिर में ही स्थान पाती हैं। हो सकता है वेद के सिद्धान्त को लेकर ही आयुर्वेदाचार्यों ने अपने विचार रखे हों। परन्तु क्यों का उत्तर तो उत्तराधिकारियों को ही देना पड़ता है। आयुर्वेदग्रन्थों में मनुष्य शरीर की प्रकृतियों का वर्णन पाया जाता है। शरीर के वर्गीकरण उसी आधार पर किये गये हैं। इस दृष्टि से शरीर के ब्रह्मकाय, महेन्द्रकाय, वारुणकाय, कौबेरकाय, गान्धर्वकाय, याम्यकाय, राक्षसकाय आदि भेद कहे गये हैं। भारत में यह विचार विशेष महत्व का था। यहां तक कि काष्ठों में भी जातियों का प्रयोग उनके गुणानुसार माना जाता था। परन्तु वहां पर तो उनका प्रयोग था। वर्तमान आयुर्वेदज्ञों में इसका कोई प्रयोग नहीं देखा जाता है। मलेरिया में सभी को डाक्टर जिस प्रकार एक कुनैन का ही प्रयोग करता है वैसे ही वैद्यराज भी। इन सूक्ष्म विषयों का विचार किसी वैद्य को करते देखा नहीं जाता। इसका यही प्रधान कारण हो सकता है या तो इन्हें कोई जानता नहीं या इनका कोई उपयोग चिकित्सा में है ही नहीं। इसलिये यह एक अत्यन्त आवश्यक और अनिवार्य कार्य है जो किसी भी मूल्य पर क्यों न हो ? आयुर्वेद का अनुसन्धान एक बृहत् पैमाने पर कराया जावे और उसे वैज्ञानिक साधनों से समुन्नत किया जावे।

प्राचीन भारत में राज्य की ओर से आयुर्वेद की वृद्धि के लिए प्रयत्न होते थे। आयुर्वेद के ग्रन्थों में यहां तक बतलाया गया है कि विना राज्य के प्रमाण-पत्र प्राप्त किये कोई वैद्य चिकित्सा के क्षेत्र में उतरने के योग्य नहीं हो सकता। आयुर्वेद का इतना ऊंचा ज्ञान भारत में शक्तियों के परिश्रम से समुन्नत हुआ होगा। जिस भारतीय आयुर्वेद की प्रशंसा की जाती है वह एक दिन में ही नहीं खड़ा हो गया। वंश-परम्पराओं से समाप्त हो चुकी, इस उत्थान में ब्रह्मा ने इस विद्या को दक्ष-प्रजापति को पढ़ाया, उसने अश्विनीकुमारों को इसका ज्ञान दिया और अश्विनी कुमारों ने इन्द्र को उपदेश दिया। इन्द्र से धन्वन्तरि आदि आचार्यों को यह ज्ञान प्राप्त हुआ और उन्होंने ग्रन्थों में इसका प्रणयन किया। आर्यों की परम्परा में ब्रह्मा, चतुर्वेदज्ञ है, अतः उसको वेद के मन्थन से यह ज्ञान प्राप्त हुआ होगा। एक समय भारत में आयुर्वेद का इतना प्रचार था कि विविधांगों में यह प्रणाली वरती जाती थी, आयुर्वेद, हस्त्यायुर्वेद अश्व-चिकित्साशास्त्र और वृक्षायुर्वेद आदि के अनेक ग्रन्थ रचे गये थे। ईसा के पूर्व तीसरी शती में महाराज अशोक ने भी मनुष्यों और पशुओं के लिए चिकित्सालय खोले थे। इनमें आयुर्वेद की ही पद्धति वर्त्ती जाती थी, उस समय आयुर्वेदिक वनस्पतियां भी पैदा की जाती थीं। आश्चर्य न होगा कि भूरवे में पहला अस्पताल इसके सात सौ वर्ष बाद पेरिस में ईसा की चतुर्थे शताब्दी में स्थापित हुआ। औषधि-चिकित्सा और शल्य-चिकित्सा ईसा से बहुत पूर्व भारत में जोरों से प्रचलित थी। बौद्धकाल में तक्षशिला आदि में भी आयुर्वेद की ऊंचे दर्जे की शिक्षा दी जाती थी। सुश्रुत का प्रचार आठवीं शताब्दी में पूर्व की ओर कम्बोडिया तक और पश्चिम में अरब तक फैला हुआ था। औषधि-विज्ञान और शल्यतन्त्र के प्रयोगों में भारतीय लोग यूनानियों से कहीं आगे बढ़े हुये थे। कितनी ही औषधियों का प्रयोग उन्होंने भारतीयों से ही सीखा था। चीरफाड़ का कार्य आज-

कल की देन समझा जाता है, परन्तु भारतीयों में यह पहले भी अच्छी स्थिति में विद्यमान था। सुश्रुत में चीरफाड़ का वर्णन है। यन्त्रों, शस्त्रों आदि के भेद भी बतलाये गये हैं। इनमें दांत उखाड़ने का भी यन्त्र परिगणित है। यहां तक कि पथरी की चीरफाड़ भी भारतीय वैद्य करते थे। विष-चिकित्सा का भी भारतीय आयुर्वेद में वर्णन पाया जाता है। भारतीय आयुर्वेद में एक विशेषता इस बात की है कि वह इस शरीर-पिण्ड को संसारपिण्ड का एक प्रतिरूप मानता है। जो ब्रह्माण्डमें है, वही पिण्ड में है, यह विचारधारा इसमें निहित है। यद्यपि आज सभी चिकित्सा-प्रणालियां इसे किसी न किसी रूप में स्वीकार करती हैं परन्तु यह प्रथम आविष्कार भारतीयों का ही है। शारीरिक पिण्ड के परिज्ञान के लिए संसार के पिण्डों के परिज्ञान की भी आवश्यकता है। आयुर्वेद-विज्ञान में शरीर-विज्ञान के साथ-साथ इसी कारण से प्रकृति-विज्ञान की भी आवश्यकता है। विज्ञान में बुद्धि जिस वैद्य की जितनी तीव्र होगी वह आयुर्वेद में भी उतना अधिक कुशल हो सकेगा। इसी प्रकार हमें पशुओं की चिकित्सा के विषय में यह प्रणाली कैसे वर्ती जावे इसका भी समाधान करना चाहिये। आज एलोपैथिक विज्ञान का यह एक अंग है परन्तु आयुर्वेदिक विधि से इसका प्रयोग कहीं पर दर्शन के लिए भी नहीं है। भारत में अहीरों को ऐसी अनेकों औषधियां अब भी ज्ञात हैं जिनसे वे पशुओंकी चिकित्सा कर लेते हैं परन्तु वैद्यों को वह मालूम नहीं हैं। जितने भी सभ्य देश धरा पर विद्यमान हैं उनमें पशु-चिकित्सा के लिए अधिक बल दिया जाता है। फिर यदि आयुर्वेद सम्पूर्ण भारत में अपना क्षेत्र बनाना चाहता है तो उसके इस दिशा में शून्य रहने से तो कोई श्रेय का कार्य नहीं बन सकेगा। औषधियों के इन्जेक्शन भी परमावश्यक हैं। एक कराहते हुए रोगी के लिए दूसरा चारा कोई नहीं कि तत्काल उसे आराम पहुँचा दिया जावे। जहां ऐसी परिस्थिति में डाक्टर

रोगी को १५ मिनट में हंसा देता है वहां आयुर्वेदज्ञ समय की प्रतीक्षा करता है। वह भी या तो स्वयं इन्हें इन्जेक्शनों को वर्तता है या उस समय ठीक हो जायगा ऐसा कह कर समय टालता है। इन विचारों को दृष्टि में रखते हुए अभी आयुर्वेद के क्षेत्र में बहुत कुछ परिवर्तन की आवश्यकता है।



भारत के समय-समय के सिंचाई के साधन

स्वास्मृति और सभ्यता के उदयकाल से ही भारत कृषिप्रधान देश रहा है। आधुनिक समय में भी कृषि ही यहां के निवासियों का प्रधान उद्योग है। वार्ता-शास्त्र भारत का बहुत ही समुन्नत रहा है। कृषि, पशुपालन और व्यापार को वार्ता के अन्तर्गत माना जाता है। ये तीनों कार्य भारतीय वैश्यों के एकाधिकार में रहे। वैश्य के कर्मों में तीनों ही प्रधान कर्म कहे गये हैं। भारतीयों को कृषि-कर्म करते हुए पूर्व काल में जितने अन्न के नाम ज्ञात थे और जो खाद्यान्न के रूप में बर्ते जाते थे, आज तक उनसे अधिक दुनियाँ की सभ्य जातियों ने नहीं निकाल पाया है। बारह प्रकार के खाद्यान्नों का वर्णन तो यजुर्वेद के १८ वें अध्याय के १२ वें मन्त्र में ही मिलता है। आज भी संसार में लगभग वे ही अधिकतया बर्ते जाते हैं। भारतीय शस्य दो प्रकार की मानी गयी है। महाभारत से आज तक इस की प्रचुर मात्रा में उपज होती आयी है। प्रथम कृष्टपच्या और द्वितीय अकृष्टपच्या फसलें हैं। कृष्टपच्या वह फसल है जो हल से जुती हुई भूमि में उत्पन्न की जाती है—गेहूं, यव, धान आदि इसी कोटि में आते हैं। अकृष्टपच्या शस्य वह है जिसके लिए भूमि को हल से जोतने की आवश्यकता नहीं पड़ती। कई प्रकार के बोग धान, जो तालाबों में बोये जाते हैं और नीवार आदि इस श्रेणी के अन्न हैं। इन्हें व्रतान्न भी माना जाता है। इन सभी अन्नों

की उपज के लिए कृषि-विद्या में निपुण भारतीय कृषक लोग भूमि का भी चुनाव इसी रूप में करते थे। भूमि और फसल के अनुरूप ही भूमि का विभाग भी दो प्रकार का किया गया है। प्रथम भाग देवमातृक और दूसरा अदेव-मातृक अथवा नदी-मातृक है। जो अन्न ऐसी भूमि में बोये जाते हैं, कि जिसमें वर्षा की सिंचाई ही पर्याप्त है अन्य प्रकार की सिंचाई की आवश्यकता नहीं पड़ती—वह देवमातृक है। जिस भूमि में अन्न उत्पन्न करने के लिए नदी, नहर आदि से सिंचाई की आवश्यकता पड़े—वह नदी-मातृक है। वर्षा में होने वाली फसलों को देवमातृक कहा जा सकता है। परन्तु गेहूं आदि की फसलों को सिंचाई की आवश्यकता पड़ती है—अतः उसके लिए सिंचाई के साधनों को बरतना पड़ता है। अदेवमातृक भूमि और फसल के लिये भारतीयों ने सिंचाई के विविध प्रयत्न किये थे। उनके इस दिशा में किये गये आयोजन सिंचाई के लिये पर्याप्त होते थे और अन्न भी भारत में अधिक मात्रा में उत्पन्न होता था। वर्षा की कमी के कारण कभी-कभी वर्षा से होने वाली फसल नष्ट होने लगती थी। उस समय सिंचाई के लिए नदी और बड़े-बड़े तालाबों, झीलों और बांधों के पानी इस कार्य के लिये सुरक्षित रखे जाते थे।

महाभारत-काल में मानधाता के राज में हुए एक बड़े भारी दुष्काल का वर्णन वायु पुराण में मिलता है। इसी प्रकार का एक दूसरा भयंकर दुष्काल हरिश्चन्द्र के पिता त्रिशंकु के राज्यकाल में पड़ा था। महाराज दशरथ के राज्यकाल में भी बहुत बड़े-बड़े दुष्कालों का वर्णन मिलता है। शन्तनु के राज्य में हुई अनावृष्टि और दुष्काल का वर्णन भारतीय वाङ्मय में अति प्रसिद्ध है। परन्तु इन सब का सामना उस समय राजा और प्रजा ने बड़ी योग्यता से किया। ऐसे अवसरों पर सिंचाई के कृत्रिम साधन भारत में सफलता के साथ वर्त जाते थे। चन्द्रगुप्त के राज्यकाल में भारत में मैगस्थनीज नामी यूनानी राजदूत

रहता था। वह भारत की कृषि की प्रशंसा करते हुए लिखता है कि यहाँ पर प्रचुर मात्रा में धान्य पैदा होता था और उसकी सिंचाई के लिए लोग नदी की धार को नहर के रूप में परिवर्तित कर कार्य में लाते थे। चन्द्रगुप्त के राज्य में जिस समय सूखा पड़ा था ऐसे साधन लोग बरतते थे—इसका दिग्दर्शन मैगस्थनीज के कथन से मिलता है। भारत के प्राचीन साहित्य में—‘आवट, कुल्या, सरसी, तटाक, प्रसवण, प्रपा, कूप, बापी, पद्याकर, नदी और गर्त आदि जलीय साधनों का प्रयोग देखा जाता है। ‘आवट’ का सामान्य अर्थ कुवाँ है, परन्तु वेदों में इसका प्रयोग सूखे “जलाशय” के अर्थ में आया है। यह जलाशय पानी को सुरक्षित रखने के लिये बनाया जाता था। वैदिक साहित्य में कुल्या शब्द का प्रयोग मिलता है। इसका अर्थ कृत्रिम नदी एवं नहर है। यह नदी से निकाली जाती थी। अथर्ववेद (३।१३) में नदियों से नहर खोदने का वर्णन मिलता है। ऐसी नहरों के उद्घाटन का संस्कार-समारोह भी कौशिक सूत्र ४०।३—४ में मिलता है। नहर को अथर्ववेद में ‘वत्स’ और नदी को गाय से उपमित किया गया है। सर, सरसी महान् जलाशय, जा जल के संरक्षणार्थ बनाये जाते थे उनके अर्थ में प्रयुक्त होता था। सरसी का रूप वर्तमान ‘डल’ “डैम्स” का होता था। भारत में ऐसे बहुत से जलाशय इस नाम से प्रसिद्ध थे। पम्पासर, शोण आदि इसी प्रकार के थे। इन “डैम्स” और नहरों को बनाने के विषय को बतलाने वाले शास्त्र भी भारत में प्राचीन काल में प्रसिद्ध थे। देवी पुराण में महान् “पाली-बन्ध” का आकार दो सौ क्यूबिट्स का बतलाया गया है। इस विषय को जाननेवाले पाथःशास्त्रज्ञ कहे जाते थे। ऐसे ब्राह्मणों का वर्णन शक संवत् १२९१ के एक उत्कीर्णलेख में भी मिलता है। विधान शास्त्र के सर्वप्रथम निर्माता मनु ने अपनी स्मृति (७।१९६) में लिखा है कि राजा को अपने दूसरे शत्रुओं को जीतने का साधन यह बर्तना चाहिए

कि सर्वप्रथम शत्रुओं की सीमा के अन्दर जितने 'तडाक' हैं उन्हें वह नष्ट-भ्रष्ट कर देवे। चन्द्रगुप्त के प्रधान मन्त्री महान् अर्थशास्त्रज्ञ कौटिल्य ने इसी प्रकार का वर्णन अपने ग्रन्थ में भी किया है। चाणक्य का कथन है कि संप्राम के समय में शत्रु के राज्यान्तर्गत भूमि पर झीलों, तड़ागों और बांधों को तोड़कर बाढ़ ला देनी चाहिये। मनु ने प्रदेशों की सीमा निर्धारण करते समय, सरसी, कुएं, तालाब और प्रस्रवण के निर्माण द्वारा सीमा खींचने का विधान किया है। मानव-शास्त्र ८।२४८ में ऐसा विधान देखने को मिलता है। मनुस्मृति ११।२७९-२८१ में नहरों आदि को तोड़ने और उनके मार्ग में बाधा डालने वालों को दण्डाहं ठहराया गया है। जल-वितरण, प्रपा, कूप, वापी, कुल्या, तडाक और तालाबों के निर्माण के कार्य को भारतीय शास्त्रों में पुण्यकार्य बतलाया गया है। इस प्रकार के कर्मों को 'इष्टापूर्त' नाम दिये गये हैं। बृहस्पति ने अपने विधान में और विष्णु पुराण ने भी तड़ागों के निर्माण और जीर्णोद्धार को धनिकों का परम कार्य ठहराया है। राज्य द्वारा इस प्रकार के कार्यों को पूरा किया जाता था। ऋषि नारद ने सम्राट् युधिष्ठिर के दरबार में एक समय पदापेण किया। नारद ने सर्वप्रथम यही प्रश्न किया कि राज्य में सुख-शांति तो है ! उनके अन्य प्रश्नों में एक यह भी था कि कृषक सुखी और सम्पन्न तो हैं ? तडाक पानी से परिपूर्ण और राज्यभर में कृषि के अर्थ पानी देने में पर्याप्त तो हैं ? कृषि केवल वर्षा पर ही तो नहीं निर्भर रहती है ? कौटिल्य ने अपने अर्थ-शास्त्र में कुछ अमूल्य बातें ऐसी लिखी हैं—जिनसे इस विषय पर और भी प्रकाश पड़ता है। १—प्रजा के द्वारा उपज का एक चौथाई भाग राज्य को नदी, झील, डैम्स, और यन्त्र से कार्य करने वाले कूपों के पानी के लिए देना पड़ता था। २—दुष्काल के समय में राजा और प्रजा तडाकों के पार्श्ववर्ती क्षेत्र में शरण लेते थे। ३—तालाब और नहरों में मछलियां आदि पाली जाती

थीं और प्रमाण-पत्र के साथ उनके उपयोग की आज्ञा रहती थी। ४—निजी 'डैम्स' यदि पांच वर्ष तक अच्छी प्रकार नहीं संभाले जावें तो राज्य उसे अपने अधिकार में कर लेता था। ५—ऐसे तडाकों का निर्माण यदि जनता के चन्दे पर होता था तो ५ वर्ष तक उसे लगान की छूट रहती थी। ६—जीर्णोद्धार के विषय में यह लगान की छूट चार वर्षों की होती थी। इससे प्रजा को कृषि के लिये केवल वर्षा पर नहीं निर्भर रहना पड़ता था। प्रणाली, सरसी, कुल्या, निका, नल और नलिका शब्दों का प्रयोग संस्कृत में बहुधा इन जल-वितरण के लिये निर्मित कृत्रिम साधनों के लिए ही पाया जाता है। 'डैम्स' और 'नदीवाहों' से खेतों की सिंचाई और पाली, विपाली आदि जल मार्गों का वर्णन भी ग्रन्थों में मिलता है। 'नदी' और 'गर्त' का भेद कात्यायन ने इनकी धाराओं के आधार पर आधारित किया है। चाणक्य ने वर्षा की डिश्रीज को जानने के लिए भी साधनों का प्रयोग बतलाया है। क्योंकि वर्षा के मात्रानुसार ही क्षेत्रों की लगान लोगों से ली जाती थी। सिंचाई के विभाग के निरीक्षक अधिकारी को 'जलसूत्रद' कहा जाता था। इस विभाग का नाम 'वारि-श्रीप-करण' था। भगीरथ का नाम गंगा के साथ लगा ही है। वस्तुतः उस समय के भगीरथ एक महान् व्यक्ति थे, जिन्होंने बड़ी-बड़ी नहरें निकालीं। गंगा की जलधारा को परिवर्तित करने का श्रेय भगीरथ और उनके इंजीनियरों का है। शून्य पृथ्वी पर आराम और ग्रामों के बसाने के महान् कार्य का जिस प्रकार पृथुवैन्य से सम्बन्ध है, उसी प्रकार नहरों के निर्माण का सम्बन्ध भगीरथ से पाया जाता है। इस प्रकार भारतीय साहित्य के परिशीलन से यह पता चलता है कि ईसा के जन्म से बहुत पूर्व भारत में सिंचाई के प्रबन्ध के लिये विविध उपयोगी साधन प्रयोग में लाये जाते थे। राज्य और प्रजा की ओर से इस विषय का प्रशंसनीय आयोजन सदा होता रहा।

इस्वी सन् के प्रारम्भ से दशम शती तक भी बहुत से तालाब आदि भारत में बनाये गये। भील सुदर्शन काठियावाड़ की प्रसिद्ध भील थी। रुद्रदामन प्रथम के उत्कीर्ण लेखों में इसकी बनाई और मरम्मत के विषय के लेख मिलते हैं। ये कार्य मौर्य-साम्राज्य के लाटों द्वारा समय समय पर किये गये थे। इसका निर्माण मूल में चन्द्रगुप्त मौर्य के काल में प्रारम्भ हुआ था; परन्तु पूर्णता अशोक के समय में हुई। रुद्रदामन के समय में एक बड़े भारी तूफान से यह भील नष्टप्राय हो गयी थी। विना जीर्णोद्धार के भी यह लगभग चार सौ वर्षों तक चलती रही। रुद्रदामन के प्रान्तपति सुविशाख द्वारा इसकी मरम्मत का कार्य पूरा हुआ और इसे ऐसा बनाया गया कि सुदर्शन के स्थान में यह 'सुदर्शनतर' बन गयी। ३०० वर्षों के बाद स्कन्दगुप्त के समय में यह भील पुनः फट गयी। इसकी इस दूसरी बार की मरम्मत का भी उल्लेख उसी पाषाण-शिला पर मिलता है। इसकी बंधाई के कार्य में दो मास लग गये थे। इस समय उस भील का अस्तित्व नहीं। पता नहीं कि किस समय और कैसे वह भील विनष्ट हो गयी। छठीं सदी ए. डी. से लेकर दसवीं तक बराबर भारतीय सम्राटों—श्री काकुत्स्थवर्मा, महेन्द्र वर्मा, नन्दिवर्मा, दान्ति विक्रम वर्मा तथा अन्य राजाओं ने जिनके नामों का पता नहीं चलता—विविध तडागों का निर्माण कराया था। उन तडागों में तालगुण्डा, महेन्द्रतडाक, परमेश्वर तडाक, तिराईनेरी भील, कावेरी पक्कम, वयिरमेघ, गुदीमल्लन, धर्मपुरी तडाग, तन्दलम, डकल, सोलापुरम्, चित्रमेघ, कोलवारिधि, वीण्यमंगलम्, सोदियम्बकम्, वीरनारायण तालाब, नंगावरम्, उप्पाकोण्डम् आदि तडाग हैं, जो समय-समय पर निर्मित किये गये। इसी प्रकार ११ वीं सदी से १७ वीं तक विविध बाँधों (डैम्स) और जलाशयों के निर्माण भारत में हुए। १३ वीं शती के युद्धोत्तर भाग में अनन्तराज सागर श्री महाराज भास्कर द्वारा बनाया गया था। ये

शिखण-तरङ्गिणी

महाराज भास्कर विजयनगर के प्रथम राजवंश के थे और इन्हीं का दूसरा नाम 'भवदूर' था। यह अनन्त सागर ७ मील लम्बा और सव दो मील चौड़ा है। इसके बांध में चार पहाड़ियां हैं। इस कृत्रिम बांध की लम्बाई ४५०० फीट है और पहाड़ियों को सम्मिलित करने पर लगभग १४ हजार फीट ठहरती है। इसका गहरे से गहरा भाग सिरे पर १२ फीट चौड़ा, तल में १५० फीट चौड़ा और लगभग ३३ फीट गहरा है। इसके बनाने में कार्य करने वाले श्रमिक और साधनों का विवरण इस विषय का उत्कीर्ण लेख देता है। फीरोज शाह तुगलक की पुरानी जमना नहर और रावी नदी की नहर, जो १४ वीं और १७ वीं सदी की हैं—इतिहासज्ञों को परिज्ञात ही हैं।



लेखन-मुद्रण-प्रकाशन-कला

लिखने का प्रारंभ कब और कहां सर्व प्रथम हुआ, इस पर बहुत विचार हैं। इस प्रश्न के कत्तो और समाधाताओं में प्रो. मैक्स मूलर का नाम उल्लेखनीय है। वह ऐशियाटिक रिसर्चेंज में कहते हैं कि वैदिक काल में कोई लिखना नहीं जानता था बल्कि प्रसिद्ध व्याकरण-शास्त्रज्ञ पाणिनि के समय में भी लोग इस विद्या से वंचित थे। उनका कथन है कि प्राचीन बाइबिल की रचना के समय यहूदियों में यह कला प्रचलित थी। प्रोफेसर महोदय की सम्मति का सम्मान करते हुए विचार भेद को यहां कुछ पंक्तियों में प्रकट किया जाता है। उनकी दृष्टि से पाणिनि का समय ईसा से ३०० वर्ष पूर्व है। इस को यदि सत्य मान लिया जावे तो भी यह मानना उचित नहीं होगा कि पाणिनि के समय में लेखन कला नहीं प्रचलित थी। पाणिनि की अष्टाध्यायी के चौथे अध्याय में तीसरे पाद के ११६ वें सूत्र में ग्रन्थकर्तृत्व का वर्णन है। स्वयं उसी अचार्य ने अपने धातुपाठ में 'लिख' धातु का प्रयोग किया है जिसका अर्थ अक्षर विन्यास अर्थात् लिखना है। इन साक्षियों से साफ साफ प्रकट है कि पाणिनि के समय में लेखन कला थी। जब इस सूत्र को स्वयं उक्त प्रोफेसर महोदय ने देखा तो यह कहकर जान छुड़ायी कि यह सूत्र पाणिनि का नहीं, पश्चात् काल का है। हालांकि प्रोफेसर जी का यह कथन सर्वथा अप्रामाणिक है। वैदिक काल में यह कला थी कि नहीं, यह तो बहुत

विचारणीय विषय है जो इन थोड़ी सी पंक्तियों में नहीं दिया जा सकेगा। परन्तु भारत में यह कला सबसे पूरे विद्यमान थी इस में सन्देह नहीं। महाभारत की रचना करते समय व्यास के सामने भी लेखक का प्रश्न था। उस समय इस काये को गणेश नामी एक व्यक्ति ने पूरा किया था। कात्यायन के समय में लिखने का पूरा प्रचार था क्योंकि उन्होंने अपनी स्मृति में एक स्थान पर लिखा है कि “जहां पर लेखक साक्षी-सहित मृत हो गया हो” वहाँ पर ऐसा विधान होना चाहिए। सब से प्राचीन स्मृति मनु की है उसके ८ वें अध्याय के ६८ वे श्लोक में लिखा है कि बलात् दिया गया, बलात् खिलाया गया, और बलात् लिखाया गया काये न किये के समान है। मनु का समय बहुत पूरे का है परन्तु उन क समय में भी लेखन-कला विद्यमान थी। बृहस्पति स्मृति में इस कला क आचार्य-कार का कारण बताते हुए दर्शाया गया है कि छः मास में हाँ पूरे बातें पूरे तथा स्मरण नहीं रहती, अतः इस बात का विचार कर के ब्रह्मा न पत्रा पर अक्षर लिखने का रीति चलायी। याज्ञवल्क्य ने बतलाया है कि लिखत पत्र, याग और साक्षी, ये तीन प्रमाण हैं। इन में से एक का भी अभाव हाँ तो शपथ खाकर काम चल सकता है। इस के अतिरिक्त वाल्मीकि को लीजिए। उन का समय कोई नवीन नहीं। उन्होंने भी रामायण युद्धकाण्ड में महिमा का वर्णन करते हुए लिखा है कि जो इस को पढ़ते सुनते और लिखते हैं उनका स्वर्ग में वास होता है। महात्मा बुद्ध के समय में भी लिखने की प्रथा विद्यमान थी क्योंकि ललित-विस्तारमाला में यह लिखा है कि उन्होंने चन्दन की लेखनी से अध्यापक के आदेशानुसार वर्ण लिखना आरंभ किया। इन साक्षियों से यह सिद्ध है कि प्राचीन समय में भारतीय लोग लिखना अच्छी प्रकार जानते थे। उस समय के लेख भूर्जपत्र, ताडपत्र और कपड़े या लकड़ी तथा अन्य धातुपत्रों आदि पर होते थे। शिला-लेख आदि भी अधिकतर किये जाते थे। बृटिश म्युजियम इंगलिस्तान के

पुस्तकालय में ईंटों, खपरैलों, कट्टुये की खोपड़ी, हड्डियों, चपटे पत्थरों, वृत्तों की छाल और पत्तों, हाथीदांत, चमड़े, भिल्ली, भोजपत्र, जस्ते, लोहे, तांबे के पत्रों और लकड़ी के पटरों पर लेख विद्यमान हैं। वहां पर बाइबिल की भी नवीन प्रतियां नारियल के पत्तों पर लिखी हुई विद्यमान हैं। भारतीय वृत्तकी छाल और भूर्जपत्र का अधिक प्रयोग करते थे। दूसरी जातियों में चमड़े आदि का योग या जाता था। हाथ के कागज पर लिखने के भी प्रमाण बहुत पहले के मिलते हैं। सिकन्दर के आक्रमण के समय ३२७ ईसवी पूर्व लिखने की परिपाटी का बहुत अधिक प्रचार था।

मुद्रण

कागज पर मुद्रण का कार्य सर्व प्रथम चीन देश में प्रारंभ हुआ। वहां पर हान राजवंश काल में २०२ ईस्वी से १२२ ईस्वी पूर्व के मध्य कागज तथा वस्तुओं पर मुद्रण की प्रथा प्रचलित हो चुकी थी। चीन में लकड़ी पर खोदकर और अक्षरों के अलग अलग टाइप बनाकर, इन दोनों प्रकार की छपाइयां होती थी। पुस्तकाकार मुद्रण की परंपरा बाद में प्रचलित हुई। अमेरिका देशवासी डा. आर्थर डब्ल्यू ह्यूमेल का कथन है कि संसार की सबसे पहली मुद्रित पुस्तक चीन में सन् ८६८ ई० में प्रकाशित हुई। यह जन्म-कुण्डली बनाये जाने वाले कागज के समान कागज पर छपी थी। किसी समय में ये पुस्तकें रेशमी वस्त्र पर छपती थीं। ईसा के चार पांच शताब्दी पूर्व चीन में लिपटे हुए लम्बे कागजों और रेशमी वस्त्रों पर छापने का प्रचलन था। इस प्रकार की प्रथा वहां पर ८-१० शताब्दी तक थी। चीन देश से ही कोरिया, जापान तिब्बत के लोगों तथा मुगल जातियों ने कागज पर छपाई का कार्य सीखा। भारत में कागज पर मुद्रण के प्रमाण बहुत पूर्व काल के नहीं मिलते। शिला-खण्डों, भूर्जपत्रों, हाथ के कागज पर लिखने के प्रमाण तो बहुत पहले

शिक्षण-तरङ्गिणी

के मिलते हैं। १६ वीं सदी के मध्य में गोवा में पुर्तगालियों ने सर्वप्रथम प्रेस खोला। योहप से ये रोमन अक्षरों के टाइप लाये थे। भारतीय भाषाओं के लिए भी ये उन्हीं का प्रयोग करते थे। भारत में प्रसिद्ध लिपियों में सर्व प्रथम तामील अक्षरों के ही टाइप बने। एक ईसाई प्रचारक ने सन् १५५७ ई० में पहले पहल तामील का टाइप बनवाया और उससे कोचीन में तामील की छपाई हुई।

अमस्टर्डम से सन् १६६७ ई० में प्रकाशित होनेवाले 'चाइना इल-स्ट्रेटा' में नमूने के तौर पर देवनागरी लिपि का मुद्रण सबसे पूर्व हुआ। परन्तु उसके टाइप सन् १७६१ ई० में बने। देवनागरी लिपि के टाइप तामील के १८४ वर्ष बाद और बंगला लिपि के टाइप के १७ साल पूर्व बने। इसमें सन्देह नहीं कि भारतवर्ष में प्रेस खोलने और भारतीय भाषाओं के अक्षरों के टाइप बनाने का कार्य सर्व प्रथम पुर्तगालियों ने ही किया था। उनके इस कार्य का क्षेत्र विशेषतः गोवा और बंगाल था। योहप में आज से प्रायः ६०० साल पूर्व पुस्तकें हाथसे ही लिखी जाती थीं। सन् १४४० ई० में जर्मनी में जानगटेनबर्ग ने रोमन टाइप तैयार किया। कुछ भी हो उपर्युक्त विवरणों से यह ज्ञात हो जायेगा कि मुद्रण की कला पूर्व को ही ज्ञात थी और चीन देश में यह कला अत्यन्त प्राचीन समय में प्रचलित थी। पश्चिम में इसका ज्ञान बहुत बाद में हुआ।

ऊपर की पंक्तियों में विषय पर थोड़ासा प्रकाश डाला गया जो कि शीर्षक में दिये विषय के इतिहास के साथ पूर्व देशों में इसका ज्ञान सर्व प्रथम हुआ, इस विषयको भी बतलाती हैं। थोड़ासा इसकी प्रगति पर भी ध्यान देना चाहिए। लेखन, मुद्रण और प्रकाशन के कार्य बहुत महत्वपूर्ण हैं। देश, जाति और सभ्यता को पुनर्जीवित रखने में इनका बड़ा उपयोग है। भारत में ६४ कलाओं में इन को भी स्थान दिया गया

था । आज लाखों ग्रंथ-रत्न अप्रकाशित पड़े हुए हैं । उनका प्रकाशन एक महत्वपूर्ण कार्य है । इन कलाओं को यदि प्रोत्साहन दिया जाए तो थोड़े दिनों में भारतीय विद्या का भण्डार बहुत अमूल्य ग्रंथरत्नों से सुसज्जित हो सकता है । साहित्य की वृद्धि पर ही संस्कृति और देश की महत्ता है और यह निर्भर करता है इन कलाओं पर । आये दिन प्रेस उद्योग को बहुत समुन्नत करने की बड़ी आवश्यकता है । यह उद्योग केवल धनो-पार्जन के लिए ही नहीं बल्कि साहित्योद्धार और नूतन प्रकाशनो के लिये किया जाना चाहिए । देश के कोने कोने में इसके प्रसार की आवश्यकता है ।



नाट्य-कला का विकास

मानव एक चेतनामय प्राणी है, यह सब पर दो और दो चार की भांति विदित है। उसकी इस चेतना का विश्लेषण करते हुए मानस-शास्त्र-विशारद उसमें ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न अथवा दृष्ट-चन्तर से अनुभूति को सन्निहित मानते हैं। यह चेतना प्रकृति पर अपना कार्यकलाप प्रारंभ करती है। प्रकृति विविध दृश्यों का कोष है। इन दृश्यों को संसार में यह चेतना देखती है अनुभव करती है और निरीक्षण करती है। अपने आस-पास की दृश्य-समष्टि एवं दृश्य-व्यष्टि को यह अपने अनुभव में लाती है और उसके संस्कार को मानसपटल पर अंकित रखती है। इस चेतना में जहां प्रकृति को देखने का स्वभाव है, वहां देखे हुए को उसी रूप में यह प्रकट भी करना चाहती है। यह स्वभाव भी वस्तुतः उसकी चेतना में ओतप्रोत है। जहां उसमें बोध है, वहां उस बोध को प्रकट करने की इच्छा और स्वभाव भी उसमें निहित है। इस प्रकट करने की वृत्ति का नाम ही अभिव्यंजना है। यह अभिव्यंजना वृत्ति जिस समय सृष्टि के पदार्थों में नियम, कार्यकारण सूत्र का विचार और उनके गुणों तथा शृंखला आदि का निर्धारण करती है तब दर्शन और विज्ञान आदि शास्त्रों की प्रवृत्ति होती है। यद्यपि ये अभिव्यंजना के ही व्यापार हैं परन्तु इन्हें कला का नाम नहीं दिया जाता—ये कला की सीमा में नहीं आते। परन्तु जब यह अभिव्यंजनावृत्ति प्रकृति के सौन्दर्य को व्यक्त करती है तब उसे

हम 'कला' के नाम से व्यवहृत करते हैं। प्रकृति के सौन्दर्य की अनुभूति को जब चेतना अभिव्यक्त करना चाहती है तब उसके अभिव्यक्तीकरण से जो प्रकार हमारे समक्ष आता है वह कला बन जाता है। यद्यपि भारत में ६४ प्रकार की कलायें मानी गई हैं—प्रत्येक विषय को कला ही में गिना गया है—फिर भी कला को बहुत व्यापक क्षेत्रों में नहीं घसीटा जाना चाहिए। अन्यथा प्रत्येक विज्ञान को भी कला ही कहना पड़ेगा। भोजदेव ने जल, वायु और आग्ने के संयोग से उत्पन्न होने वाले वाष्प के निरोध से अनक क्रियाओं के संपादन करने का 'कला' नाम दिया है। इसी प्रकार स्वर्ण और रजत के आभूषणों का निर्माण और मीनाकारी आदि करना, पशुओं के शरीर से चमड़ा निकालना और उसका सामान तैयार करना, उसे मुलायम बनाना आदि काय; गौ आदि का दुहना, कुता आदि कपड़ों का सीना; वस्त्रा का स्वच्छ करना और दौरेकमे करना तथा शिशुओं का संरक्षण और उनके लिये भात-भांति के खिलौने बनाना आदि कलायें हैं। इन्हें आर इनसे आर भी अधिक कलाओं का कला का नाम देना अपना अपना पारभाषा की भिन्नता पर निर्भर है।

सौन्दर्यानुभूति

परन्तु नाट्य, अभिनय और काव्य में इसी कला से अभिप्राय नहीं है। इसमें सौन्दर्यानुभूति का अधिक स्थान है। वस्तुतः कला के दो भेद होते हैं—एक है उपयोगी कला और दूसरी ललित कला। उपयोगी कला में अधिकांश ६४ कलाओं में वर्णित कलाओं और लोहार, स्वर्णकार, वस्त्रकार और चमकेदार आदि सर्वा के कार्यों का सम्मिश्रण है। परन्तु ललित कला में केवल कला पंचक को ही ग्रहण किया जाता है। इस पंचक में—वास्तु-कला, मूर्ति-कला, चित्रकला, संगीतकला और काव्य कला का ही सम्मिलित करते तथा उपयोगी और ललित कलाओं में महत्व देते हैं। इस ललित कला में भी काव्य कला को श्रेष्ठता प्रदान की जाती है।

काव्य कला में भी नाट्य कला को रम्य कहा जाता है। काव्य श्रव्य और दृश्य भेद से दो प्रकार का है। इसमें भी श्रव्य की अपेक्षा दृश्य अधिक लोकप्राही है। यही कारण है कि काव्यग्रंथों से जहां सहृदय विद्वज्जनों को ही आनन्द मिलता है—वहां दृश्य काव्य-अभिनय आदि से सर्व-साधारण के हृदय में रसावबोध और आनन्द फलकने लगता है। मनुष्य का हृदय मक्खन की भांति है जो जाड़े में कठोर और थोड़ी सी गर्मी से पिघला हुआ हो जाता है। इस हृदय पर जब कोई भाव अपना प्रभाव जमाते हैं तो वह द्रवीभूत हो उन्हें अपने में मिला लेता है। नाट्यकला का भाव भी इसीलिये इस पर अधिक प्रभाव उत्पन्न करता है। यह कला सभी के लिए सुखावह है। जिन्हें अक्षर का परिज्ञान भी नहीं—वे भी इससे आनन्दित होते देखे जाते हैं। इस नाट्य कला का विकास कब हुआ ? और कैसे हुआ ? इस पर पर्याप्त सामग्री नहीं मिलती। विचार-भेद तो आज कल प्रत्येक विषय में होना साधारण सा है। राम, कृष्ण अथवा राणाप्रताप आदि वीर पुरुषों सम्बन्धी भारतीय नाटकों में एक प्रकार की वीर-पूजा का भाव देखा जाता है। इससे डाक्टर रिजवे जैसे विद्वानों ने यह परिणाम निकाला कि नाटक-संज्ञे की प्रवृत्ति वीर पुरुषों के प्रति आदरभाव व्यक्त करने के लिए व्यवहार में आयी। भारत में पुत्तलिका-नर्तन बहुत पुराने समय से चला आ रहा है। भोज के सिंहासन में तो बोलने वाली पुत्तलिकाओं का होना बतलाया जाता है। इस भारतीय पुत्तलिकानृत्य का प्रचार भारत से विदेशी भूमि पर भी पहुंचा। इससे ही नाट्यकला का प्रादुर्भाव हुआ होगा—ऐसी कुछ विद्वज्जनों की धारणा है। जर्मनी के डाक्टर पिशेल इस धारणा को स्वीकार करने वालों में हैं। नाटक में अभिनय करने वाले पात्रों में 'सूत्रधार' और 'स्थापक' का वर्णन मिलता है। इन शब्दों के अभिप्राय से भी इस धारणा को लोग पुष्ट करते हैं। जिस प्रकार पुत्तलिकाओं के नृत्य

में सूत्र का संचालन एक के हाथ में रहता था और एक व्यक्ति पुत्तलियों को स्थापित करता था—उसी प्रकार नाट्य में भी यह सूत्रधार और स्थापक आ गये ।

अन्य धारणाएं

इन धारणाओं के अतिरिक्त एक और धारणा इस दिशामें प्रचलित है । वह यह है कि नाटकों की रचना का प्रारंभ छायानाटकों से हुआ होगा । छाय-नाटक सिनेमाओं की तरह ही प्रदर्शित किये जाते थे । परन्तु भारत में ऐसे छाय-नाटक एक से अधिक नहीं । केवल दूतांगद नाटक ही इस प्रकार का है । इस नाटक का समय इतना प्राचीन नहीं कि यह निश्चित मत बनाया जा सके कि नाट्यकला का ही श्रीगणेश इसके आधार पर हुआ होगा । अन्य देशों में भले ही इस धारणा का कोई मूल्य हो परन्तु भारत में तो यह नाटकों की आधारभित्ति नहीं कही जा सकती । चौथी विचारसरणी के अनुसार ऋग्वेद को नाटकीय विद्या का मूल माना जाता है । इसमें पाश्चात्य और पौरस्त्य दोनों ही विद्वान् सहमत हैं । इसका विशदीकरण इस प्रकार किया जाता है कि ऋग्वेद के संवादसूक्त इस कला के विकास के मूल होंगे । पुरुुरवा और उर्वशी के अनैतिहासिक काल्पनिक संवाद वस्तुतः इस विषय में आधारभूत हो सकते हैं । महाशय कीथ ने भी कई जर्नलों में यह बात प्रकट की है कि वेदों में व्यक्तियों के इतिहास नहीं अपितु नाटक-पात्रों के कल्पित व्यक्ति पाये जाते हैं । वे कोई व्यक्ति विशेष नहीं कल्पित पात्र हैं । यह कीथ के बाद के विचार हैं, पहले तो उसने भी वेदों में इतिहास माने हैं जो वस्तुतः मिराधार है । ऋग्वेद, सन्देह नहीं कि संसार के पुस्तकालय में सबसे प्राचीन पुस्तक—हमारी ही नहीं उन लोगों की दृष्टियों से भी है, जो इसे ईश्वरीय ज्ञान नहीं मानते । हमारा तो कहना ही क्या ? हम आर्य लोग तो इसे ईश्वरीय ज्ञान मानते हैं । ऐसी अवस्था में जब ऋग्वेद मानव-सभ्यता के सिद्धान्तों

का मूल है और नाटक भी कला रूप से यदि सभ्यता का एक भाग है तो इसका भी आधार ऋग्वेद होना चाहिए।

प्रादुर्भाव

परन्तु यह विचार केवल कला के रूप में ही समन्वय खा सकेगा। वर्तमान नाटकों के प्रकार और अश्लीलता आदि का वेद से सम्बन्ध तो नितराम् विपरीत विचार होगा। इस धारणा को और भी पुष्टि भरत के नाट्य-शास्त्र से मिली, जिससे अध्याय १। श्लोक १७ में नाट्यकला का प्रादुर्भाव वेद से माना गया है। भरत मुनि का कथन है कि—नाटकीय पाठ्यवस्तु ऋग्वेद से, गान सामवेद से, अभिनय यजुर्वेद से, और रस अथर्ववेद से लिया गया। नाट्य की महत्ता पर बल देते हुए नाट्यशास्त्र १।१० में भरत मुनि का यह भी कहना है कि ज्ञान, शिल्प, कला और योग संसार में कोई भी ऐसा नहीं जो इस नाट्य साहित्य में न प्रदर्शित किया गया हो। नट और नतेक का प्रयोग वाल्मीकि रामायण, महाभारत और पुराणों में विविध स्थलों पर हुआ है। अस्तु जो भी हो, विचारणीय बात तो इसके आदि स्रोत की है। भारत में जितने विद्या एवं कला के ग्रंथ हैं सभी वेद को मानकर चलते हैं। उनकी बातों की प्रामाणिकता भी तभी हो सकती थी जब कि वे अपनी बातों को वेद से दिखलाते—यह भी एक प्रधान कारण हो सकता है परन्तु इस आधार पर यदि प्रत्येक बात को जो बुरी से बुरी हो—उसका लिखने वाला वेद से उसे दिखलावे तो, यह मन्तव्य नहीं और यह है भी उसका केवल साहसमात्र ही। यही बात वर्तमान नाटकों के विकृत रूप से भी घटती है। ये विकृत रूप तो कदापि वेदमूलक नहीं हो सकते। आज रमणियों के नग्न चित्रों के निर्माण को जो कला का रूप दिया जाता है और कहा जाता है कि यह कला है—यह सर्वथा कला का अपमान करना है और यह वेद तो क्या भर्खादा के भी सर्वथा विरुद्ध है। ऐसी भद्दी बातों के लिए पवित्र ज्ञान वेद

में कोई भी स्थान नहीं हो सकता। रस, अलंकार, काव्य और विशुद्ध कला का स्थान वेद में हो सकता है। काव्य की इसी महत्ता को दर्शाने के लिये आधुनिक ग्रंथों साहित्य दर्पण आदि में उसे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का पोषक कहा गया है।

भरत-नाट्यशास्त्र भारत में इस कला के विषय को बतलाने वाला वृहद् ग्रन्थ है। इसमें सभी नाट्य कला के प्रकाशक अभिनय के अंगों का विचार मिलता है। नाट्यसाहित्य के इस लक्षण ग्रंथ के आधार पर नाटकों का प्रचार पहले भारत में रहा होगा। क्योंकि लक्षण तो बनते ही हैं प्रयोगों की संगति से। इससे इतना तो ज्ञात होता है कि भारत में बहुत पुराने समय से नाटकों का प्रयोग होता रहा और वह भी तब जब कि भारत के अतिरिक्त अन्य किसी देश में इसकी भूमिका भी नहीं खड़ी की गयी थी। लेकिन ईसा से एक शती पूर्व का प्रमाण मिलते हुए भी, ईसा से तीन शती पूर्व का नाट्य-साहित्य अज्ञात-कालिक है। भारतीय अभिनयों के विषय में अपने विचारों को व्यक्त करते हुए महाशय विलियम जोन्स ने कहा है कि “भारतीय नाटक-साहित्य इतने वृहद् आकारका है कि जैसा आधुनिक योरोप की किसी नेशन में उपलब्ध नहीं हो सकता है।” प्रोफेसर हीरेन ने कहा है कि भारतीय हिन्दुओं के नाटकों को योरोपीय रंगभूमि की परिभाषाओं में बड़ी सरलता से परिवर्तित किया जा सकता है और उनको—ट्रेजिडी, कामेडी, ओपेरा, बैलेट, बल्लेटा, मेलोड्रामा और फार्स के शीर्षकों में वर्गबद्ध किया जा सकता है। शकुन्तला के अनुवाद का अध्ययन करते हुए जर्मन कवि-दार्शनिक गोयथे के मुख से अकस्मात् शकुन्तला की प्रशंसा में भाव भरे शब्द निकल पड़े थे। कालिदास के सत्यन्ध में हीरेन का विचार है कि “हम यह सत्यतः मानने को बाध्य हैं कि कालिदास उन कवियों में से एक हैं, जिन्होंने केवल अपने राष्ट्र की ही प्रतिष्ठा को ही नहीं अपितु समस्त सभ्य मानव

प्रारम्भ-तरङ्गिणी

परिवार की प्रतिष्ठा को बढ़ाया है। कालिदास का समय ईसा से एक शताब्दी पूर्वका माना गया है। इनकी कृति उपरिक्तित अभिज्ञान-शाकुन्तल और मालविकाग्निमित्र आदि संस्कृत नाटक साहित्य में बहुमूल्य स्थान रखते हैं। इनके उपरान्त भवभूति, विशाखदत्त, शूद्रक और राजेश्वर आदि नाटककारों ने बड़े सुन्दर नाटकों की रचना की है। इनकी रचनाओं में बड़ी सफलता दृष्टिगोचर होती है। दसवीं शती तक संस्कृत भाषा में नाटकों की अच्छी भरमार रही। इसके पश्चात् १९ वीं शती तक नाटकों के सर्जन से दूर सी ही रही। फिर भी रत्नावली नाटिका, हनुमन्नाटक, प्रबोध-चन्द्रोदय आदि इसी काल में बने थे। संस्कृत-भाषा के नाटकों में एक विचित्र भाव प्राप्त होता है। वेणीसंहार वीर-रस के लिये कितना ओजस्वितापूर्ण नाटक है। मुद्राराक्षस, भास के स्वप्नवासवदत्ता आदि भी अपने स्थान पर अकेले ही हैं। विक्रमोर्वशीय, नागानन्द आदि का भी अपना-अपना स्थान है। इसी प्रकार अनर्घराघव आदि भी अच्छे नाटकों में हैं।

हिन्दी नाटक

इधर कुछ वर्षों से हिन्दी जगत् में नाटकों के विषय में अच्छी प्रगति होने लगी है। लोगों का ध्यान इधर जा रहा है, आशा है भविष्य में अच्छे और शिक्षाप्रद नाटकोंका निर्माण होगा। समाज का साहित्य पर गहरा प्रभाव पड़ता है। वर्तमान समाज में जो कमियाँ हैं उनको दूर करने का प्रयत्न यदि कलाकार अपनी कृतियों से करें तो बहुत अच्छा कार्य हो सकता है। देश के कल्याण में प्रेरणा देने वाले नाट्यसाहित्य का सर्जन होना चाहिए। केवल गन्दे शृंगारों की भरमार को कला कह कर इसको गन्दा नहीं करना चाहिए।



वाद्य-शिरोमणि वीणा

अत्यन्त प्राचीन काल से भारतीय यह जानते आये हैं और वेद से लेकर आधुनिक ग्रंथों तक में प्रधानता से वर्णित है कि “आकाश का गुण शब्द है।” संयोग से, विभाग से, और शब्द से शब्द की उत्पत्ति होती है। शब्द को उत्पन्न करना और वह भी इस ढंग से कि दूसरे शब्दों से मिलकर श्रोता को आनन्दित करे वाद्यों की रचना का उद्देश्य रहा है। इस शब्द को भारतीय कभी लौकी, धातु अथवा लकड़ी के सावकाश पात्रों को चर्म से अवगुण्ठित कर उत्पन्न करते थे, कभी सावकाश सुषिर बांस आदि को प्रपूरित कर और कभी तारों को कस कर उनके रणन से निष्पन्न करते थे। कभी घन वस्तु से भी शब्द का निष्पादन किया जाता था। शब्दों के उत्पन्न करने की इन विधियों के अनुसार वाद्यों के चार भेद किये गये—अवगुण्ठित वाद्य, सुषिर वाद्य, घनवाद्य और ततवाद्य। भरत नाट्यशास्त्र के २८ वें अध्याय के प्रथम और द्वितीय श्लोकों तथा संगीत के ग्रंथों में इन्हीं चार प्रकार के वाद्यों का वर्णन मिलता है। यद्यपि इनमें अवान्तर भेद समय के साथ बहुत हुए हैं परन्तु जातिएं इनकी ये चार ही हैं। इन चार प्रकार के वाद्यों में ततवाद्यों का और उनमें भी वीणा की बड़ी प्रतिष्ठा रही। इसके वादन में भी बड़े-बड़े परिष्कार होते रहे। इनका वर्णन हमारे संगीत के ग्रंथों में विस्तार से मिलता है।

वीणा के विविध नाम

माघ-कविरचित शिशुपालबध काव्य में नारद का वर्णन करते हुए उनकी वीणा का भी दिग्दर्शन आया है। उस स्थल की टीका करते हुए कोलाचल मल्लीनाथ ने इन परिष्कारों का अच्छा वर्णन किया है। वीणायें भिन्न-भिन्न गायकों की बहुत ही प्रसिद्ध थीं। नारद और तुम्बरु ऋषियों को गन्धर्व और गायकों में श्रेष्ठ कहा गया है। दूसरी तरफ सरम्बती और शिव को भी वीणा के कुशल प्रयोग कर्त्ता बतलाया गया है। विश्वावसु नामी गन्धर्व भी एक प्रसिद्ध और सिद्धहस्त वीणावादक माना गया है। इनकी प्रसिद्धि के अनुसार ही इनकी वीणायें भी प्रसिद्ध हैं। रुद्र की वीणा का नाम नालम्बी और नारद की वीणा का नाम महती था। सरस्वती की वीणा कच्छपी और तुम्बरु की वीणा कलावती नाम से प्रसिद्ध थी। विश्वासुगन्धर्व 'वृहती' नाम की वीणा को धारण करता था। गन्धर्वों के दूसरे गण प्रभावती नाम की वीणा के उपासक थे और यह उनके नाम से प्रसिद्ध थी। इन वीणाओं के अरिक्त १० वीं शताब्दी में लिखे गये संगीत दर्पण नामी ग्रंथ में वीणाओं के और भी प्रकार माने गये हैं। वहाँ दिये गये नामों में—अलावणी, ब्रह्मवीणा, किन्नरी, विपश्ची, वह्नी, ज्येष्ठा, चित्रा, घोषावती, जया, हस्तिका, कुब्जिका, कूर्मा, सारंगी, परिवादिनी, त्रिशरी, शततन्त्री, नकुलोष्ठी, वंसरी, औडम्बरी, पिणाकी और निबन्ध पुष्कला आदि नाम मिलते हैं। कहीं कहीं पर शतचन्द्री ढंसरी का अधिक उल्लेख मिलता है। संगीत रत्नाकर में पीना, रावणहस्तिका, आलापिनी, और कुतप को भी ततबाधों में अधिक गिनाया गया है। कुतप का वर्णन भरत मुनि के नाट्यशास्त्र २८।४ में भी मिलता है। इन नामों में ही सकता है कि कई वीणा के विशेष भेद न होकर पर्यायवाची ही हों। शिशुपालबध में कवि माघ ने वह्नी को वीणासामान्य में माना है। यहाँ संगीत-दर्पण में वह वीणा विशेष मालूम पड़ती है। माघ नारद

की वीणा को बल्लकी कहता है। जबकि नारद की वीणा का नाम महती है। उसका यह कथन वीणासामान्य मानने पर ही ठीक हो सकता है। फिर भी विविध प्रकार की वीणायें भारत में बनती थीं यह ठीक ही है।

विकासवाद की धारणा

सरस्वती वैदिक साहित्य में वाणी अथवा वाणी के देवता के अर्थ में प्रयुक्त है। गीः, वाक्, वाणी और सरस्वती संस्कृत साहित्य में समानार्थक हैं। शब्द के गुणों के कारण सरस्वती के साथ वीणा का होना ठीक ही है। सरस्वती वाणी का विभाग करते हुए मेघ की गरज को भी सरस्वती कहा गया है। वीणावादित शब्द भी शब्द का एक प्रकार ही है। वीणा रूपी इस तत्वाद्य का विस्तार भारत में कैसे हुआ, इस विषय पर लोग अपने ढंग से प्रकाश डालते हैं। बौद्धकाल की वीणा के स्वरूप को धनुषाकार देख कर कई लोग यह अनुमान करते हैं कि दसवीं सदी तक वीणा का जो स्वरूप रहा उससे धनुष से ही इसकी कल्पना हुई होगी यह सिद्ध है। परन्तु इस कल्पना में विकासवाद की धारणा कार्य कर रही है। लोग कहते हैं कि पहले मनुष्य ने अपनी आवश्यकतानुसार धनु-निर्माण किया। धनुष की प्रत्यंचा में उसे शब्द का भान हुआ। जितनी ही प्रत्यंचा तनी जाने लगी उतनी ही शब्द में विशेषता हुई। अतः उसने इस विशेषता के आधार पर वीणा में तारों के तनाव आदि की कल्पना की होगी, इस प्रकार धनुष के आधार पर वीणा की रचना हुई होगी।

धनुर्वीणा

धनुर्वीणा का प्रकार वाद की कलाओं में देखा जाता है परन्तु इससे यह अनुमान करना कि धनुष की कल्पनाओं से वीणा की रचना हुई ठीक नहीं। धनुष की ज्या अपने निर्माण-काल से ही बहुधा तांत की बनती

शिक्षण-तरङ्गिणी

है। परन्तु वीणा में मूंज, काश, रेशम, बाल आदि के ही तार पहले बने जाते थे। विकासवाद की धारणा ज्ञान और कला के विकास में कोई भी योग्य विद्वान् स्वीकार नहीं करता। ललित कलाओं के आधार पर विकासवाद का खण्डन तो किया जाता है। वीणा का वर्णन वेदों में भी मिलता है और उनके व्याख्यान-भूत ब्राह्मणादि ग्रंथों में भी। ऋग्वेद १।८५।१० में “वाण” शब्द का प्रयोग मिलता है। ‘वाण’ का अर्थ करते हुए ताण्ड्य ब्राह्मण ५।६।१३ में बतलाया गया है कि वाण ‘शततन्त्रीक’ अर्थात् सौ तारों वाला होता है और सभी वाद्यों में उत्तम है। इसे ही महावीणा कहा जाता है। शतपथ १३।१।५।१ और तैत्तिरीय ३।१।१४।१ में वीणा को श्री का रूप कहा गया है और बतलाया गया है कि जब मनुष्य श्री को प्राप्त होता है, तो उसके लिए वीणा बजायी जाती है। तैत्तिरीय शाखा ७।५।९ तथा शांख्यायन श्रौतसूत्र में १७।३।१ वाण एवं वीणा के बनाने का प्रकार मिलता है। महाव्रतविधि में ऐसे वाद्य का निमोण किया जाता था। यह केवल एक विधि थी। इससे यह कल्पना नहीं करनी चाहिए कि इन्हीं वस्तुओं मात्र से ही वीणा बनती थी अन्य प्रकार से नहीं। विधि में तो केवल निदर्शन मात्र है।

आकार-प्रकार

चर्म मढ़ा हुआ एक तुम्बा, जिसमें १० छिद्र होते थे, एक उदुम्बर की लकड़ी के साथ लगाया जाता था। प्रत्येक छिद्र में मूंज के दश तार लगाये जाते थे। ये तार अच्छी तरह से कस दिये जाते थे और इसके बजाने की धनुही भी सीक अथवा वेत की बनाई जाती थी। इसमें बाल के तार लगा दिये जाते थे। सामवेद के ग्रंथों के अनुसार अलावुवीणा, वक्रावीणा, महावीणा, और कपिशिषा का अस्तित्व मिलता है। यह महावीणा ही वस्तुतः ऋग्वेदीय वाण शब्द की अभिधेय है। ताण्ड्य

ब्राह्मण में ऐसा ही बतलाया गया है। कर्मकाण्ड के ग्रंथ लाट्यायन श्रौतसूत्र ४।२।८ में पिच्छोरा और काण्डवीणा नामी ततवायों का वर्णन मिलता है। इस प्रकार वेद और तत्सम्बन्धी साहित्य में वीणा का वर्णन मिलने से इसकी प्रचारिता सुतराम् सिद्ध है। वीणा के आकार प्रकार में इस अत्यन्त पुराने समय से लेकर अब तक अनेक परिवर्तन होते रहे। मौर्यकाल से कला कृतियों के प्रमाण उपलब्ध होते हैं। उस समय के इस सम्बन्ध के निदर्शन अभी तक प्राप्त नहीं हैं। विक्रम सम्वत् से पूर्व दूसरी शती में वीणा का प्रमाण मिलता है। भरहुत स्तूप पर निर्मित चित्रों पर वीणाधारी स्त्रियां दिखलायी पड़ती हैं। इन वीणाओं में तुम्बे पर तार लगे हुए हैं जो कि दण्ड से बंधे मिलते हैं। कोशाम्बी से उपलब्ध होने वाले चित्रों से उदयन का घोषवती वीणा धारण किये हुए भद्रावती नामक हस्तिनी पर बैठने का वृत्तान्त मिलता है। यह उदयन वह है जिसके साथ वासवदत्ता-हरण की कथा का सम्बन्ध जोड़ा जाता है। कुषाण कालमें भी वीणा का प्रचार पयाप्त था, ऐसा पुरातत्व विभाग की खोजों से निकले स्तूपों आदि से मान्यम पड़ता है।

प्राचीन अभिलेखों में गुप्तसम्राट् समुद्र गुप्त की वीणा-वादन-पटुता बतलायी गयी है। वहां पर वीणा-वादन में समुद्रगुप्त की पटुता का वर्णन करते हुए उन्हें प्रसिद्ध गन्धर्व और वीणावादक नारद तथा तुम्बरू को भी तिरस्कृत करने वाला लिखा गया है। कुछ मुद्राओं पर भी हाथ में वीणा लिए हुए सम्राट् की मूर्ति अंकित है। गुप्त काल में वीणा की आकृति जहां धनुष के रूप की मिलती है वहां सीधी दण्डवीणा का भी पर्याप्त उदाहरण मिलता है। श्री बी. एस. अप्रवाल महोदय को “गुप्त आर्ट” फ. ५ आकृति ७ को देखने से विदिशा नगरी के समीप उदयगिरि की कन्दराओं में एक स्थल पर गंगा-यमुना का संगम चित्रित किया हुआ मिला है। उस अवसर पर कतिपय देवांगनाओं के नृत्य का भी चित्रण

है। इनके हाथों में दण्डे वाली ही वीणा है। अग्रवाल महोदय ने फ १ आकृति १ में जो चित्र दिखलाया है—उससे अजन्ता की चित्रकला में भी इसी प्रकार की वीणायें देखी जाती हैं। धनुर्वीणा और दण्डवीणा दोनों का प्रयोग उस समय होता था। इसके अतिरिक्त जातक कथाओं में भी वीणा का वर्णन मिलता है। इसके परिशीलन से ज्ञात होता है कि वीणा का तुम्बा चर्म से मढ़ा हुआ होता था और आकार लम्बा गोल होता था। दण्डे में मोड़ अथवा वक्रता होती थी। जातकों को देखने से यह भी ज्ञात होता है कि गायकों की पटुता वीणा के वादन की दक्षता से कूती जाती थी। राजा ब्रह्मदत्त के यहां एक ऐसी प्रतियोगिता भी हुई थी। इन वीणाओं में सात तार होते थे। उस समय की भाषा में इसे ‘सत्ततन्त्री’ कहते थे। यह संस्कृत सप्ततन्त्री का रूप है। मिलिन्द पद्मव में तत्कालीन वीणा के विविध अंगों का वर्णन मिलता है। श्री ए. कुमार स्वामी ने अपने लेख “द पार्ट्स आव वीना” में जो कि सन् १९३१ में अमेरिकन ओरियण्टल सोसायटी के जनरल पृ. २४४ से २५३ तक छपा है, वीणा के भागों को दिखलाया है। वीणा का तुम्बा, तुम्बे का चर्म, छिद्र, दण्ड, कोण आदि अंगों, के वर्णन मिलते हैं।

वीणा का दिग्दर्शन

जैन लोगों के ११ अंगों में सर्व प्राचीन आचारांग सूत्र में तन्तु-वाद्य के वीणा, विपंची, वद्विषक, तुणक तथा तुम्ब-वीणा अथवा धंकुण—नाम मिलते हैं। वीणा के वादन में भारतीय लोग बहुत सिद्धहस्त थे। बहुत सूक्ष्म वादन कला के भेदों का निरूपण भरतनाट्यशास्त्रादि ग्रंथों में मिलता है। नारद मुनि की वीणावादन की पटुता को दिखलाते हुए माघ कवि ने लिखा है कि इसमें ग्रामविशेष की स्वरसारणी बहुत ही स्पष्ट थी। स्वर सप्त और तीन ग्राम तथा २१ प्रकार की मूर्छनायें मानी जाती

हैं। तान के ४९ भेद माने गये हैं। २२ प्रकार की श्रुतियों का वर्णन भी कई गीत-विशारद लोग मानते हैं। इन सब का वीणा में स्पष्ट झलकना कोई साधारण बात नहीं। नारद जिस समय सनत्कुमार के पास ब्रह्म विद्या का उपदेश लेने गये थे, उस समय जिन विद्याओं के परिज्ञान का उन्होंने वर्णन किया था वे भी आश्चर्यचकित करने वाली हैं। उन विद्याओं में प्रवीण नारद जहां एक ऋषि थे वहां संगीत और वीणा वादन में भी उनकी नैपुणी अति विशिष्ट थी। नारद को जिन विद्याओं का ज्ञान था वे ये थीं—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद, इतिहास, पुराण, व्याकरण, मानवविज्ञान, गणित, भौतिक-विज्ञान, अर्थशास्त्र, तर्कविज्ञान, नीति, भौतिकभूगोल, अध्यात्मविज्ञान, प्राणि-विज्ञान, राजशासन-विद्या, ज्योतिष-विद्या और गन्धर्व-विद्या। यहां इन सभी विद्याओं में गन्धर्व विद्या का भी उल्लेख नारद ने स्वयं किया। नारदसंहिता इस विषय में प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इसमें इस विषय पर प्रभूत विचार किया गया है। नारद की परम ज्ञानी होने से और पूर्वोक्त विद्याओं में निष्णात होने से जहां ऋषियों में गणना है वहां गायन विद्या में निपुण होने से उन्हें गन्धर्वों में भी गिना गया है। तुम्बरू और नारद को गायकों में श्रेष्ठ माना गया है। नारद की वीणा महती अतिप्रसिद्ध है और इसका वर्णन उनके साथ मिलता है। यह है संक्षेप में वाद्यशिरोमणि वीणा का दिग्दर्शन, जो हमें अपने भारतीय साहित्य में मिलता है।



पृथ्वी पर मानव के उदय का इतिवृत्त

सम्प्रति विद्वानों का ध्यान इस विषय की ओर गया है कि मानव-वंश की परम्परा का वास्तविक इतिवृत्त लिखा जावे। भिन्न भिन्न देशों ने इस विषय में संयुक्त प्रयत्न करने की पूर्वपीठिका भी निधोरित करनी प्रारंभ कर दी है। ज्ञात हुआ है कि भारत भी इसमें पयोष्य सहयोग देगा—और देना भी चाहिए। सृष्टि की आयु की भांति मानवी वंश की आयु को भी ४ से ६ सहस्र वर्षों की मनादा में ही चक्कर काटने की विचारधारा अब आधुनिक अनुसंधानोंसे अग्रगस्त समझी जाने लगी है। सृष्टि के इतिहास के साथ यह ढूँढना परमावश्यक है कि वस्तुतः मानव का उदय इस पृथ्वी पर कब हुआ ? सृष्टि-कुल-चूड़ामणि मानव के इतिवृत्त की निश्चित धारणा बनाये बिना सभ्यता और संस्कृति का तथ्यभूत इतिहास नहीं बन सकता। वर्तमान समय में जो प्रमाण पुस्तकों की साक्षी के रूप में इस विषय में प्राप्त हैं उनमें ऋग्वेद सबसे प्राचीन पुस्तक है—यह बात सभी विद्वत्पुंगवोंको स्वीकार्य है। ऋग्वेद तथा अन्य वेदों और वैदिक साहित्य से इस विषय में जो प्रमाण हमें प्राप्त होते हैं वे विवाद के विषय समझे जाते हैं। परन्तु वर्तमान विज्ञान उनके समीप पहुँच रहा है। वेदों के देखने से इस विषय में दो युक्ति-युक्त धारणाएँ बनती हैं। प्रथम यह है कि मानव जो सृष्टि का उपभोक्ता है वह सृष्टि के पृथ्वी और भोग्यपदार्थों के बन जाने के बाद ही पृथ्वी पर आया। दूसरी

धारणा यह है कि मानव-जीवन का उदय पृथ्वी पर वनस्पति आदि के हो जाने के तीन युग पश्चात् हुआ। ऋग्वेद में कुछ १०७ औषधियों का वर्णन करते हुए उन्हें मानव से तीन युग पूर्व पैदा होनेवाली बतलाया गया है। यह सिद्धान्त युक्तिसंगत और दार्शनिक है। तीन युग को हम तीन चतुयेगी का काल मान सकते हैं। सृष्टि के विकास हो जाने पर औषधियों आदि के पृथ्वी पर होने में इतना समय लगा होगा। एक चतुयेगी का काल-मान आर्य परम्पराओं में तैत्तलीस लाख बीस हजार वर्ष माना जाता है। कुछ भी हो, यह तो आवश्यक है कि मानव का इतिहास ढूंढने के पूर्व सृष्टिकाल का निर्णय किया जावे। दोनों का एक घनिष्ठ सम्बन्ध है। अथर्ववेद में संसार की आयु पूरे ४ अरब ३२ करोड़ वर्षों की मानी गयी है। इसके आधार पर भारतीय ज्योतिष ग्रन्थों में इस अवधि में से बीते हुए वर्षों की संख्या आज तक १ अरब ९७ करोड़ २९ लाख ४९ हजार और ५७ वर्ष की मानी जाती है। भारत में किसी कर्म के संकल्प को पढ़ते समय भारतीय कर्मकाण्डी पण्डित इसका ही पाठ करते हैं। यही सृष्टि संवत् के नाम से माना जाता है। यह काल-कल्पना लोग सशुपयुक्त नहीं मानते। परन्तु आज तक के पृथ्वी की आयु के विषय के अनुसंधान लगभग निकटतम वर्षों की संख्या तक इसी परिणाम पर पहुँच चुके हैं। सृष्टि की आयु को ४ हजार वर्षों से लेकर अबतक २ अरब वर्षों से ऊपर तक कहा जा चुका है। छः सहस्र वर्ष से उठकर ३९ हजार वर्ष सृष्टि की आयु निश्चित करने का सिद्धान्त भूतल-विशारदों ने प्रकट किया। रिसाला बागवान पंजाब जनवरी सन् १८८७ के संपादकों ने यह मत व्यक्त किया कि पृथ्वी के धरातल के बनने और उनपर भिन्न भिन्न वनस्पतियों के उगने और नष्ट होने तथा उसमें मानव का उदय काल भी मिलाने पर सृष्टि की प्राचीनता ३० लाख वर्षों तक जाती है। इसके अनन्तर सृष्टि की आयु को विद्वानों ने ४०

लाख वर्षों पर पहुँचा दिया। ज्योतिर्विद्याविशारद प्रोफेसर एस. न्यू. कोम्ब ने लिखा है कि जब पृथ्वी ठंडी होकर वनस्पति के उगने के योग्य हुई उस समय से अब तक १ करोड़ वर्ष व्यतीत हुये होंगे। इसी तर्क के आधार पर प्रोफेसर हिलना और काल महोदय ने क्रमशः सृष्टि की आयु को २ करोड़ और ७ करोड़ वर्ष स्वीकार किया है। बाद के विचारक सर विलियम टामस ने इस काल को १० करोड़ वर्ष का स्वीकार किया है। सीक्रेट डाक्टरिन के विद्वान् लेखक ने सृष्टि की आयु के विषय में मतान्तर देते हुए ३० करोड़ वर्षों की उसे दिखलाया है। प्रोफेसर विचारफ की यह धारणा है कि पृथ्वी को दो सहस्र डिग्री की गर्मी से २ सौ डिग्री की गर्मी तक पहुँचने के लिये ३५ करोड़ वर्ष व्यतीत हुए होंगे। महाशय रीड ने भूगर्भ विज्ञान की परिपद् में सन् १८७६ में यह तथ्य प्रकट किया था कि कोई ५० करोड़ वर्ष हुए होंगे जबसे योरुप में वनस्पति आदि उत्पन्न होने प्रारम्भ हुये। हैक्सली का विचार यह है कि संसार में वनस्पति का उगना आरंभ होने से आजतक का समय एक अरब वर्ष के लगभग है। इस प्रकार विविध अनुसंधानों से यह काल मान बढ़ता ही जा रहा है। पृथ्वी की आयु के निर्माण में—सूर्यताप, भूताप, समुद्र जल, भूगर्भ और रेडियो ऐक्टिविटी के सिद्धान्त माने जाते हैं। इनके आधार पर आजतक पृथ्वी की आयु इस प्रकार निर्धारित की गयी है—सूर्यताप के द्वारा १८ से २० मिलियन वर्ष तक, भूताप के द्वारा २० से ६० मिलियन वर्ष, समुद्र जल के द्वारा १०० मिलियन वर्ष, भूगर्भ के द्वारा १०० मिलियन वर्ष और अन्तमें रेडियो ऐक्टिविटी से ३७१ मिलियन वर्ष। इन मतों का भारतीय मतसे जो ४ अरब ३२ करोड़ वर्ष पुरानी सृष्टि को मानता है, यदि समन्वय किया जात्रे तो पता लगेगा कि वह कल्पित एवं निराधार नहीं है। इतिहास के प्रसिद्ध विद्वान् माननीय अलफिंस्टन महोदय, भूतपूर्व गवर्नर बम्बई ने तारीख हिन्दुस्तान में हिन्दुओं द्वारा माने मत पर अपना विचार

प्रसफुट किया है। उनका कथन है कि जो समय ब्रह्मा का एक दिन नियत किया गया है वह ज्योतिष विद्या के नियम पर आधारित है। नोड्ज और ऐम्पायजर का पूर्ण चक्कर जो हिन्दुओं के ज्योतिष के अनुसार ४ अरब ३२ करोड़ वर्ष में पूरा होता है, यह ब्रह्मा का एक दिन है। नोड्ज सूर्यवृत्त के उन बिन्दुओं को कहते हैं जहां ग्रहगति की परिधि का कटाव होता है। ऐम्पायजर ग्रह के उन दो स्थानों को कहा जाता है, जो आदि काल में अत्यन्त निकट और अत्यन्त दूर समझे जाते हैं अर्थात् शीर्षतल और पदतल। सृष्टि की इस लम्बी आयु में से १ अरब ९७ करोड़ २९ लाख ४९ हजार ५७ वर्षों का उपभोग हो चुका है। हिन्दू ज्योतिर्विद्या के अनुसार सृष्टि का समय इस प्रकार अब तक २ करोड़ वर्षों की कमी से लगभग २ अरब वर्ष ठहरता है। हिन्दू ज्योतिषियों ने अपने गणित में सृष्टि के आदि दिन, मास, ऋतु, राशि और नक्षत्र तक का वर्णन किया है। भास्कराचार्य के 'सिद्धान्तशिरोमणि' में सृष्टि का आदि दिन रविवार माना गया है। इनकी सृष्टि-सम्बन्धी काल-गणना को ज्योतिष के अनुसार समझना चाहिए, काल्पनिक नहीं।

यह तो हुआ सृष्टि की आयु का काल। मानव का प्रादुर्भाव जैसा ऊपर कहा गया है सृष्टि में पृथ्वी आदि के वास योग्य बन जाने और वनस्पतियों आदि के उगने योग्य हो जाने के बाद ही हुआ होगा। जब सृष्टि इतनी पुरानी है तो मानववंश की परम्परा भी तो उसी के कुछ तत्सम कालों से प्रारम्भ हुई होगी। इस विषय में जो प्रमाण अब तक हमें प्राप्त होते हैं उनसे पता चलता है कि यह वंश-वृत्त भी बहुत ही प्राचीन है। भारतीय ज्योतिष विद्या का वर्णन करते हुए डाक्टर डब्ल्यू हगटर ने प्रमाणित किया है कि भारतीय ज्योतिषी ३००० वर्ष से अर्थात् ईसा से ३२७ वर्ष पूर्व ज्योतिर्विद्या में उच्च स्थान पर थे। उन्होंने उस समय वर्ष को ३६० दिनों में विभाजित कर लिया था और यह भी निश्चय कर

लिया था कि प्रत्येक तीन वर्ष व्यतीत होने पर अधिमास का एक महीना अधिक जोड़ दिया जावे जिससे ५ फुटकर दिनों की गणना ठीक समन्वय खा सके। इसके अतिरिक्त देहरादून के अजायबघर में उज्जैन के किले से निकली हुई एक सागौन की लकड़ी जो पत्थर हो गयी है, मौजूद है और जिसको तीन हजार वर्ष पुरानी माना जाता है। लप. सी. एस. का कथन है कि मिश्र के बारहवें वंश की समाप्ति ४००० वर्ष व्यतीत हुए कि हो गयी। चीन का इतिहास बतलाता है कि चार हजार वर्ष पूर्व इनके पूर्वज बहुत ही सभ्य थे। लन्दन में मिस्र के तीसरे वंश की मूर्तियां विद्यमान हैं जिन्हें महाशय बैरन ४ हजार ५ सौ वर्ष पुरानी बतलाते हैं। चीन के इतिहास से यह प्रकट होता है कि “आब रेशम” का व्यवहार ईसा से २ सहस्र छः सौ छत्तीस वर्ष पूर्व चीन में प्रसिद्ध था। तीन हजार उन्नासी वर्ष ईसा की शती से पूर्व बहुत प्राचीन राज्य ‘सईन’ का था। इसे ‘मोसार्स’ इतिहासकार ने सन् १३१३ में प्रथम “ओलियड” से पूर्व सिद्ध किया है। काहिरा से १५ मील पर “वशर” स्थान है। उसके अद्भुतालय में प्राचीन काल के दो राजकुमारियों के शव रखे हैं। वे सर्वथा ऐसे हैं, मानो उनका श्वास अभी निकला है। उनका यह शव पांच हजार वर्ष पुराना माना जाता है। मिस्र के पांचवें वंश की कब्र से निकाली गयी मूर्तियां भी—इतने ही लम्बे काल की साक्षी देती हैं। मोहिंजोदोड़ो और हड़प्पा के भग्नावशेष भी इसी निर्णय पर ले जाते हैं। मिस्र का चतुर्थ वंश ईसा से ३४२६ वर्ष पूर्व आरम्भ हुआ था और उस समय की भी बहुत सी मूर्तियां आदि पायी जाती हैं। मिस्र के ‘पीरामिड’ का काल ७ हजार आठ सौ वर्ष का माना जाता है। इटली के ज्वालामुखी पर्वतों की गाजर के आकार की श्रेणियां, जिनकी भस्म में प्राणियों की हड्डियां हैं, १२ सहस्र वर्ष पूर्व हुए विप्लव का परिचय देती हैं। मिस्र की चित्रकला और संगतराशी अफलातून के अनुसार १०

हजार वर्ष प्राचीन मानी जाती है। कर्नेल अल्काट ने माना है कि बाइबिल के लिखे जाने, यहूदियों की जाति उत्पन्न होने, पैसजिन की रींव पड़ने, मिस्र के समाधि स्थान और मीनार बनने से ५७०० वर्ष पूर्व आर्य लोग उन्नति और सभ्यता के शिखर पर थे। वे अपनी भाषा और याकरण को ऐसा सुधारे हुए थे कि उसकी समता आज तक नहीं मिलती है। यह काल साढ़े ११ सहस्र वर्षों का होता है। इतिहासकारों का कथन है कि फौही के पश्चात् १५ राजे चीन के सिंहासन पर बैठे और उनका राज्य काल १७ सहस्र वर्ष है। श्री सम्पूर्णानन्द जी आदि कुछ भारतीय वेदानों ने आर्यों का काल १८ से २० सहस्र वर्ष तक माना है। इतिहासकार नाट एण्ड गिल्डन महोदय का कथन है कि हजरत आदम ने बहुत पूर्व मनुष्य की खोज की जा सकती है। महाशय वैरेन मनुष्य की विद्यमानता २२ सहस्र वर्ष से भी पूर्व मानते हैं। नैलोडिक परीक्षा करने के उपरान्त उन्होंने यह निश्चय किया है। काल्डिया निवासियों का कथन है कि उनके पास डेढ़ लाख वर्ष से पूर्व के लेख विद्यमान हैं। तवारीख हिन्दुस्तान में यह बात दिखलायी गयी है। एथनी नगर के निवासी भी यही विचार रखते हैं और बाबुलवाले 'कस्दी' डेढ़ लाख वर्ष पूर्व तक अपनी ऐतिहासिक घटनाओं का पता देते हैं। इस दिशा में न्यूआयरलैंड में जो खुदाई छः फीट गहरी हुई है तथा पब्लिक वर्क्स की खोदाइयां और लोजियाना के प्रदेशों में जो परिणाम हुए हैं, एक नया विचार देते हैं। लोजियाना में न्यू आयरलैंड की अपेक्षा पानी की गहराई अधिक है। कम से कम दश 'सरो' के जंगल जो एक दूसरे से पानी के पौधे के खंभों से विभक्त है, ज्ञात हुए हैं। ये एक दूसरे से ऊपर शीर्ष बिन्दु की ओर विद्यमान हैं। इससे तथा अन्य साक्षियों से डाक्टर नट उलर महोदय इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि इस डेल्टा की आयु न्यूनातिन्यून १ लाख ५८ हजार वर्षों की है और मनुष्यों की इच्छा

शिक्षण-तरङ्गिणी

चूँकि जंगल की धरातल से नीची पायी जाती है अतः अनुमान है कि मिसीसीपी नदी के डेल्टा में ५७००० वर्ष से अधिक पूर्व मनुष्य जाति जीवित थी। ड्रेयर महोदय को स्काटलैण्ड के बरफानी ढेरों में मनुष्य की हड्डियां मिली हैं। इनका समय विद्वानों द्वारा २ लाख ४० हजार वर्ष कृता गया है। चीन निवासियों का यह अनुमान है कि सृष्टि के प्रथम राजा से हकीम 'कान्फ्यूसस', उनके विधान बनाने वाले तक, जो कि ईसा से ५ सौ वर्ष पूर्व हो चुका है, ९ करोड़ ६० लाख वर्ष व्यतीत हुए होंगे। खताई सम्बत् का आरम्भ प्रथम बस्ती बसाने वाले के समय से नियत करते हैं। इनके विचारानुसार आज तक अठारह हजार आठ सौ चौरासी रोज तथा ६० वर्ष व्यतीत हुए। प्रत्येक रोज को दस हजार वर्ष के बराबर मानते हैं। डाक्टर बेंट डालर महोदय का कथन है कि जो मनुष्य की हड्डियां 'सेण्टाज' के समीप (ब्रेजील) के तट पर तथा 'लेक वासेंटा' के तट पर पायी गयी हैं—एक पत्थर के साथ मिली हैं। इनसे ज्ञात होता है कि अमेरिका में मनुष्य 'सिस्पी के अलुदिबा से पूर्व विद्यमान थे। उन मनुष्यों के भी इतिहास थे।'

भिन्न जातियों और देशों में प्रचलित वर्तमान संवत्तों से भी एक बहुत लम्बे काल से मानव का पृथ्वी पर होना सिद्ध होता है। इन संवत्तो के आज तक वर्ष इस प्रकार हैं:—

आर्य सम्बत् १ अरब ९७ करोड़ २९ लाख ४९ हजार ५७ वर्ष
चीनी संवत् ९६००२४५७, खताई संवत् ८८८४०३३१, पारसी १८९९११
काल्डिया १५१९५७, मिस्री २७६११, इब्राहिम संवत् ५९६१, कलियुग
सं. ५०५७, युधिष्ठिर सं. ५०५७, नूह का सं. ५०५६, इब्राहिमी ३८६८
स्पार्टी ३६६१, मूसाई सं. ३५३०, यूनानी २७३३, दाऊदी सं. २९९२
रूमी २७०८, नाकसारी २७०२, बौद्ध २५३१, सिकन्दरी स. २३१

विक्रमी २०१३, ई. १९५६, शाक १८६९, मोहम्मदी सं. १३७५ इत्यादि ।
 न विवेचनों से मानव वंश के लिए सबसे अधिक प्राचीनता आर्य
 म्वत् से मिलती है । यदि इसे सृष्टिका वर्ष मानकर इसके अन्दर से
 करोड़ २१ लाख ६० हजार वर्ष जो त्रियुगों के हैं, निकाले जायें, तो
 नुष्य के धरा पर आने का समय १ अरब ९६ करोड़, वर्षों से कुछ
 ंपर ठहरेगा । लगभग इतना ही समय संधि और जलप्लव के माने जाते
 जिसमें सृष्टि में विकास और परिवर्तन होते रहे । इन सभी तथ्यों पर
 चार कर मानव-वंश-परम्परा का विशाल इतिवृत्त निर्मित होना
 हिए । परन्तु ऐसा करने के लिए प्रागैतिहासिक युग की कल्पना और
 ासवाद के आग्रह को छोड़ना पड़ेगा । कुछ भी हो सत्य की खोज तो
 नी ही चाहिए ।



